नई दिल्ली
रविवार, 03 मई, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-28 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril: Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

क्या निर्वाचन आयोग ने सरकार की इच्छा के अनुरूप पूरा मंच तैयार कर दिया? 4

नदी जोड़ो योजना पर हिमांशु ठक्कर से बातचीत 3

राजनीति के ऋषि थे मधु लिमये 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

दरवाजे पर प्रलय की दस्तक

भीषण गर्मी की वजह सरकारी कारगुजारियां, इस कारण जल-जंगल-जमीन पर खतरा

पंकज चतुर्वेदी

देश के विभिन्न शहरों के लोगों की शिकायत रही कि अप्रैल में इतनी गर्मी कभी नहीं पड़ी। तापमान 45 डिग्री सेल्सियस और उससे भी ऊपर पहुंच गया, और मौसम अपडेट ऐप्स ने बताया कि 45 डिग्री सेल्सियस का तापमान 49 डिग्री सेल्सियस जैसा लग रहा था, जिससे लोगों की परेशानी और बढ़ गई। सोशल मीडिया पर भीषण गर्मी के नक्शे छाए रहे। 24 अप्रैल को @WeatherMonitors ने एक सूची जारी की - उस दिन दुनिया के 100 सबसे गर्म शहर भारत में थे। इस गर्मी की वजह से बाहर काम करने वालों के लिए तो हालात भयावह ही रहे। इस बीच, नई दिल्ली के राम मनोहर लोहिया अस्पताल जैसे सार्वजनिक अस्पतालों ने लोगों को बताया कि 'उच्च मृत्यु दर से निपटने के लिए त्वरित, गहन देखभाल के लिए हीट स्ट्रोक इकाइयां उपलब्ध हैं, जिनमें विशेष कूलिंग टब, 200 किलोग्राम बर्फ बनाने वाली मशीनें और पोर्टेबल आइस पैक शामिल हैं।'

दिल्ली सरकार ने ग्रीष्मकालीन कार्ययोजना जारी की जिसमें अभिभावकों को सलाह दी गई है कि वे सुनिश्चित करें कि बच्चे 'पतले, सूती कपड़े' पहनें। स्कूलों में बच्चों को पानी पीने की याद दिलाने के लिए 'वाटर बेल' की व्यवस्था की गई है। केन्द्रीय मंत्री ज्योतिरादित्य सिंधिया ने लोगों को सलाह दी कि वे गर्मी से राहत पाने के लिए अपनी जेब में प्याज रखें, जैसा कि वह खुद करते हैं। उन्होंने दावा किया कि वह कभी एसी वाली कारों में नहीं बैठते और न ही एसी वाले वातावरण में रहते हैं। उनके इस खुलासे पर लोगों ने तालियां बजाईं लेकिन कुछ लोगों ने तुरंत ही उनके कार्यालय में लगे कई एयर कंडीशनिंग यूनिटों की तस्वीरों को लाल घेरे में डालकर जारी भी कर दिया जिससे समझ में आ गया कि जो वह कह रहे हैं, वह कल्पना से परे है।

देश में ग्रीष्म ऋतु में गर्मी का प्रकोप जिस तरह बढ़ रहा है, उसके लिए किसे या किस चीज को दोषी ठहराया जा सकता है? जैसे-जैसे अल नीनो-दक्षिणी दोलन (साउथ ओसिलेशन) चरम गर्मी की ओर अग्रसर हो रहा है, वैसे-वैसे इस असुविधाजनक सच्चाई को नजरअंदाज करना लगभग असंभव होता जा रहा है। भारत एक मिश्रित आपदा का सामना कर रहा है - वैश्विक तापवृद्धि और एक ऐसी घरेलू नीति का संगम जिसने व्यवस्थित रूप से जमीन, जल और जंगलों की उन प्रणालियों को नष्ट कर दिया है जिससे प्राकृतिक तौर पर ठंडापन रहता था।

जिसे हम 'गर्मी का तनाव' कहते हैं, वह मौसम संबंधी घटना तो है ही, उसके साथ-साथ विकास की खामियों का भी परिणाम है। 2024 की गर्मियों में और 2026 के मौजूदा चक्रों के दौरान, उत्तर भारत और बुंदेलखंड में तापमान का बार-बार 48 डिग्री सेल्सियस से ऊपर जाना जैविक रूप से घातक है। इस मानव-निर्मित भीषण गर्मी का सबसे बुरा असर उनलोगों पर पड़ता है जो प्रकृति को विस्थापित करने वाली संरचनाओं का निर्माण करते हैं।

लाखों निर्माण श्रमिकों और सड़क किनारे किसी भी किस्म का सामान बेचने वालों के लिए, गर्मी एक शारीरिक आघात है जो भारी आर्थिक नुकसान में तब्दील हो जाती है। वास्तविक आंकड़ों से पता चलता है कि गर्मी की वजह से होने वाले तनाव की वजह से देश में 2030 तक 5.8 प्रतिशत तक कार्य घंटे कम हो सकते हैं, जो 3.4 करोड़ पूर्णकालिक नौकरियों के बराबर हैं। उत्तर प्रदेश के बांदा जैसे शहरों में, सड़क किनारे काम करने वाले मजदूर 'शहरी ताप द्वीपों' में फंसे हुए हैं, जहां डामर और कंक्रीट सूरज डूबने के काफी देर बाद तक गर्मी का विकिरण करते रहते हैं, जिससे स्थानीय तापमान आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में 5-7 सेल्सियस अधिक रहता है।

ऐसी हालत, दरअसल, श्रमिक सुरक्षा संबंधी नीतिगत विफलता है जिसका मतलब है कि काम के दौरान अनिवार्य रूप से विराम या कूलिंग शेल्टर्स का प्रावधान काफी हद तक सैद्धांतिक ही रह जाता है। चूंकि ये श्रमिक गर्मी से थकावट और गुर्दे की पुरानी बीमारी (जिसे कृषि क्षेत्रों में 'शुगरकेन नेफ्रोपैथी' भी कहा जाता है) से पीड़ित हैं, इसलिए स्थानीय तौर पर कूलिंग इन्फ्रास्ट्रक्चर की कमी नीतिगत खामियों को दर्शाती है जो श्रम के काम को बिल्कुल ही त्याज्य योग्य मानती है।

यह अनदेखी ग्रामीण इलाकों तक फैली हुई है, जहां कृषि अर्थव्यवस्था दोहरी मार झेल रही है। कृषि क्षेत्र भीषण गर्मी के संकट से जूझ रहा है, उसका छोटा-सा उदाहरण। जब गेहूं के दानों में दूध आने लगता है, तो उसी दौरान तापमान में अचानक वृद्धि होने से अनाज सिकुड़ जाता है। हाल के वर्षों में, इससे गर्मी के प्रति संवेदनशील क्षेत्रों में उपज में लगभग 15-25 प्रतिशत की हानि हुई है। फिर भी, सरकारी नीतियां अक्सर सूखे क्षेत्रों में अधिक पानी की खपत वाली फसलों को प्राथमिकता देती हैं।

वनस्पतियों और जीव-जंतुओं पर इसका प्रभाव नाजुक मोड़ पर पहुंच रहा है। 'वन हेल्थ' दृष्टिकोण का उद्देश्य 'लोगों, जानवरों और पारिस्थितिक तंत्रों के स्वास्थ्य को स्थायी रूप से संतुलित और अनुकूलित करना' है। लेकिन बड़े पैमाने पर होने वाले खनन और राजमार्गों के लिए जंगलों को लगातार काटे जाने से सबकुछ तहस-नहस हो रहा है - इससे स्थानीय आर्द्रता को नियंत्रित करने वाला प्राकृतिक आवरण धीरे-धीरे कम होता जा रहा है और यह खतरे में पड़ गया है। मछलीपालन और कृषि क्षेत्रों में गिरावट उन नीतियों की गैर-जिम्मेदारी का प्रमाण है जो विकास और पर्यावरण को शत्रुतापूर्ण मानती हैं।

छतरपुर में, पन्ना टाइगर रिजर्व के पास होने वाली कथित विकास परियोजनाओं की वजह से मानव-वन्यजीव संघर्ष में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। पत्थर खनन के लिए जल संग्रहण क्षेत्रों को लगभग नष्ट ही कर दिया गया है जिस कारण प्राकृतिक जलस्रोत सूख रहे हैं। इसके चलते वन्यजीव मानव बस्तियों की ओर आने को मजबूर हो रहे हैं। वन विभागों के आंकड़ों से पता चलता है कि गर्मी के चरम महीनों के दौरान, पानी की तलाश में गांवों के बाहरी इलाकों में तेंदुए और भालू के प्रवेश की घटनाएं लगभग 40 प्रतिशत बढ़ जाती हैं। ये प्राकृतिक आपदाएं नहीं हैं - बल्कि ये उस नीतिगत विफलता का सीधा परिणाम हैं जो दीर्घकालिक पारिस्थितिक स्थिरता की तुलना में अल्पकालिक बुनियादी ढांचे के लाभों को प्राथमिकता देती है।

नीति निर्माताओं को यह बात समझनी होगी कि कंक्रीट के विस्तार के लिए काटे जाने वाले जंगल मात्र पेड़ों के समूह नहीं हैं - वे एक सूक्ष्म जलवायु के रक्षक हैं जो फसलों को ऊष्मीय आघात से बचाते हैं और मिट्टी की महत्वपूर्ण नमी को संरक्षित करते हैं। बुंदेलखंड जैसे पठारी क्षेत्र में नष्ट हुआ प्रत्येक एकड़ जंगल जमीन के अंदर पानी भरने की क्षमता का स्थायी नुकसान करता है, जिससे जमीन के अंदर के पानी की कमी और बढ़ जाती है।

बांधों, राजमार्गों और खनन के लिए जंगलों की अंधाधुंध कटाई होने से प्राकृतिक तरीके से ठंडा रखने के वे उपाय नष्ट हो जाते हैं, जो भीषण गर्मी से बचाव का हमारा एकमात्र साधन हैं

फोटो: गेटी इमेजेज

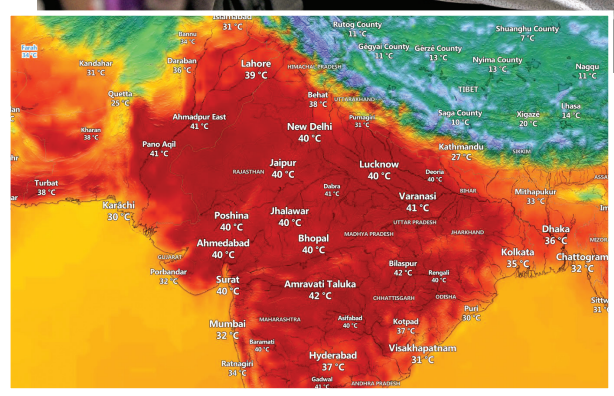

बाहर निकलने पर जानलेवा गर्मी से बचने के लिए लोग हर तरह के उपाय करते हैं। (इनसेट) सूरज का ताप लगभग पूरे देश में

जलवायु परिवर्तन में मानवजनित योगदान को दूर करने के लिए प्रगति के प्रति हमारी सोच में मूलभूत बदलाव की अनिवार्य जरूरत है। हमें यह बात स्वीकार करनी होगी कि बांदा में पत्थर खनन के लिए समतल की गई प्रत्येक पहाड़ी और केन बेसिन में रेत से रहित हर नदी तल प्रकृति और वातावरण को ठंडा बनाए रखने के लिए जरूरी था जिसे हमने हमेशा के लिए नष्ट कर दिया है। जब तक अवसंरचना में 'हरित इंजीनियरिंग' को प्राथमिकता नहीं दी जाती और पर्यावरण नियमों का ईमानदारी से पालन नहीं किया जाता, तब तक अत्यधिक गर्मी का आर्थिक नुकसान - श्रम उत्पादकता में कमी, फसल की बर्बादी और सार्वजनिक स्वास्थ्य संकटों के रूप में - इन परियोजनाओं से होने वाले किसी भी कथित वित्तीय लाभ से कहीं अधिक होगा।

जमीनी हकीकतों का विश्लेषण करने पर, नीतिगत मुख्य चुनौती इस बात को स्वीकार करने में निहित है कि 'गर्मी का तनाव' प्रणालीगत मानवीय त्रुटि का परिणाम है। हमारी वर्तमान नीतिगत संरचना में सबसे बड़ा विरोधाभास है - विशाल इन्फ्रास्ट्रक्चर परियोजनाओं के लिए पर्यावरण मंजूरी प्रक्रियाओं में निहित लापरवाही और संस्थागत जल्दबाजी। जब हम बड़े बांधों, राजमार्गों और खनन के लिए जंगलों की अंधाधुंध कटाई को मंजूरी देते हैं, तो हम प्रभावी रूप से उन प्राकृतिक कार्बन सिंक और प्रकृति में ठंड बनाए रखने वाले कारकों को नष्ट कर रहे होते हैं जो भीषण गर्मी से हमारी एकमात्र सुरक्षा हैं।

हमारी मौजूदा ताप नियंत्रण (हीट एक्शन) योजनाओं की विफलता का कारण शहरी केन्द्रों में मानव मृत्यु दर पर उनका सीमित ध्यान है, जो मिट्टी और वन्यजीवों की जैविक समस्याओं को काफी हद तक अनदेखा करता है। अगली फसल जल्दी लगाने के खयाल से अभी पुआल या पराली जला दी जाती है जबकि अधिक पैदावार के लिए रासायनिक खादों का जरूरत से अधिक उपयोग किया जाता है। सरकार को जलवायु-अनुकूल कृषि (सीएसए) के अनिवार्य भाग के रूप में मिट्टी में नमी संरक्षण को शामिल करना चाहिए, साथ ही मिट्टी को ठंडा रखने के लिए उस पर गेहूं का भूसा, पराली, सूखी घास आदि रखने और जैविक खाद के लिए किसानों को वित्तीय प्रोत्साहन देना चाहिए। 'वन हेल्थ' को जिला स्तर पर किए जाने वाले निर्णयों में जरूरी आदर्श के तौर पर लागू करना चाहिए, ताकि प्रशासनिक बाधाओं को तोड़कर संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य की निगरानी एक इकाई के रूप में की जा सके। नीति को व्यापक जवाबदेही की ओर मोड़ना होगा, जहां हर इन्फ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाए कि उसका वहां होने वाली गर्मी पर क्या प्रभाव होगा।

नीतिगत निर्णयों में प्राथमिक वनों के संरक्षण और पर्यावरण संवेदनशील क्षेत्रों में इसे कड़ाई से लागू करने को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जिला-स्तरीय ताप कार्रवाई योजनाओं की ओर संक्रमण को समग्र 'एक स्वास्थ्य' ढांचे की तरह विकसित किया जाना चाहिए जो मिट्टी, जल और वन्यजीवों को परस्पर जुड़े पारिस्थितिकी तंत्र के रूप में मानता है। कृषि क्षेत्र में, इसके लिए स्थानीय कृषि-मौसम विज्ञान केन्द्रों की स्थापना जरूरी होगी जो तापमान को मापते रहने से आगे बढ़कर ऐसा सिंचाई प्रोटोकॉल उपलब्ध कराएं जो फसलों को गर्मी के झटके से बचाते हैं।

वन प्रबंधन को पारिस्थितिक जल बजट को अपनाना चाहिए, और उपग्रह डेटा का उपयोग करके उन शुष्क क्षेत्रों की पहचान करनी चाहिए जो सौर ऊर्जा वाले जलाशयों के पास से वन्यजीवों को हताश होकर दूर जाने को रोक सकते हैं।

बहुत ही अधिक लागत से नदियों को आपस में जोड़ने के बजाय (साउथ एशिया नेटवर्क ऑन डैम्स, रीवर्स एंड पीपुल के हिमांशु ठक्कर के साथ बातचीतः देखें, पृष्ठ 3), हमें बुंदेलखंड के चंदेल-युगीन तालाबों जैसे प्राचीन जल निकायों को विकेन्द्रीकृत शीतलन प्रणालियों के रूप में संरक्षित करना चाहिए।

जब अल नीनो जैसे प्राकृतिक चक्र, प्रकृति के प्रति मनुष्य की उपेक्षा के साथ जुड़ते हैं - जैसा कि विभिन्न 'विकास' संबंधी विपदाओं में देखा जा सकता है - तो हमें उस तरह की चरम मौसम संबंधी घटनाएं देखने को मिलती हैं जो हम अभी देख रहे हैं और ऐसा शायद भविष्य में भी बार-बार होना बढ़ता ही जाएगा। क्या हम इस चक्र से बाहर निकल सकते हैं? संकेत तो भयावह ही हैं। ■

भारत के लिए सौर ऊर्जा अपनाने का समय

भारत अपनी जरूरत का 89 फीसद कच्चा तेल आयात करता है। इसका 60 फीसद 'स्ट्रेट ऑफ होर्मुज' से गुजरता है

अजित रानाडे

जब पश्चिम एशिया के आसमान में मिसाइलें उड़ती हैं, तो उसका असर हर घर के बिजली और पेट्रोल बिल पर पड़ता है। इस इलाके के संकट ने भारत की कमजोरी को उजागर कर दिया है। भारत कच्चे तेल का दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा उपभोक्ता है; वह अपनी जरूरत का करीब 89 फीसद आयात करता है- मोटे तौर पर 1.75 अरब बैरल सालाना, या करीब 48 लाख बैरल रोजाना। इस तेल का 60 फीसद से ज्यादा हिस्सा भू-राजनीतिक रूप से संवेदनशील 'स्ट्रेट ऑफ होर्मुज'' से गुजरता है।

2024-25 में भारत का कच्चा तेल आयात बिल 137 अरब डॉलर था। अगर कीमतें मार्च के औसत 113.57 डॉलर पर बनी रहती हैं, तो आयात बिल बढ़कर लगभग 200 अरब डॉलर तक पहुंच जाएगा। कच्चे तेल की कीमत में प्रति बैरल दस डॉलर की वृद्धि से भारत का आयात बिल 14 से 16 अरब डॉलर बढ़ जाता है। यह वह पैसा है जो हमारे कीमती विदेशी मुद्रा भंडार से खर्च होता है।

यह शोधित कच्चा तेल उन ट्रकों में इस्तेमाल होता है जो सामान ढोते हैं, उन ट्रैक्टरों में जो खेतों में काम करते हैं, और उन मछली पकड़ने वाली नावों में इस्तेमाल होता है जो तटीय समुदायों को भोजन उपलब्ध कराती हैं। यह उन डीजल जनरेटरों को भी ऊर्जा देता है, जिनकी मदद से पूरे ग्रामीण भारत में टेलीकॉम टावर लगातार काम करते हैं।

इस कमजोरी को कम करने का एक तरीका है। हम एक ऐसा देश हैं जो रोशनी में नहाया हुआ है! भारत को भूगोल का ऐसा वरदान मिला है कि यहां साल के 300 से ज्यादा दिन तेज धूप रहती है। बदकिस्मती से, कभी-कभी गर्मियों की यह तपिश एक अभिशाप भी बन जाती है। हमने अभी-अभी अप्रैल का एक बेहद गर्म हफ्ता देखा। दुनिया के बीस सबसे गर्म स्थानों में से 19 भारत में थे, और दुनिया के 100 सबसे गर्म शहरों में से 92 भारत में थे। लेकिन जो एक तरफ जलवायु का बोझ है, वही दूसरी तरफ ऊर्जा का ऐतिहासिक मौका भी है।

भारत, इंटरनेशनल सोलर अलायंस (आईएसए) का नेतृत्व करता है, जो 120 से ज्यादा ऐसे देशों का गठबंधन है जहां भरपूर धूप मिलती है। 2025 में भारत ने 38 गीगावाट की नई सौर क्षमता जोड़ी, जो अमेरिका से ज्यादा थी; अमेरिका ने 35 गीगावाट क्षमता जोड़ी थी। अब कुल स्थापित सौर क्षमता 150 गीगावाट से ज्यादा हो गई है, और सालाना सौर उत्पादन 2013-14 के 3.4 टेरावाट-घंटे से बढ़कर 2024-25 में 144 टेरावाट-घंटे तक पहुंच गया है। अप्रैल की भीषण गर्मी के कारण जब तापमान 40 डिग्री सेल्सियस को पार कर गया और पूरे उत्तर भारत में एयर कंडीशनर पूरी क्षमता पर चल रहे हैं, तब बिजली ग्रिड को अब तक की सबसे ज्यादा मांग का सामना करना पड़ाः 256 गीगावाट। गौर करने वाली बात है कि इस दौरान अकेले सौर ऊर्जा से रोजाना 81 गीगावाट बिजली पैदा हो रही थी। यह कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक-तिहाई था। इसकी वजह से ग्रिड फेल नहीं हुआ।

सौर ऊर्जा केवल स्वच्छ ऊर्जा नहीं, बल्कि यह हमारे विदेशी मुद्रा भंडार को भी सुरक्षित रखता है। तेल आयात पर हमारी निर्भरता में महज 10 फीसद की कमी भी, तेल की कीमतों के आधार पर, हर साल 13 से 20 अरब डॉलर की बचत कर सकती है। डीजल जेनसेट की जगह सौर-ऊर्जा के लेने, डीजल पंपों की जगह इलेक्ट्रिक पंपों के इस्तेमाल और इलेक्ट्रिक वाहनों द्वारा पेट्रोल और डीजल की मांग कम करने से, यदि 10 करोड़ बैरल तेल की बचत होती है, तब भी विदेशी मुद्रा के रूप में सालाना 7.5 से 11 अरब डॉलर की बचत होगी।

लेकिन दिलचस्प संभावना यह भी है कि भारत ऊर्जा निर्यातक बन सकता है।

भारत की 25.8 करोड़ मीट्रिक टन की तेल शोधन क्षमता पहले से ही उसकी 23.9 करोड़ मीट्रिक टन की घरेलू खपत से ज्यादा है। 2025 में, भारत ने 6.47 करोड़ मीट्रिक टन शोधित पेट्रोलियम उत्पाद- पेट्रोल, डीजल, एविएशन फ्यूल- का निर्यात किया जिसकी कीमत 52 अरब डॉलर से भी ज्यादा थी; यह रिकॉर्ड ऊंचाई थी। तेल शोधन क्षमता और बढ़ने वाली है, जो 2028 तक 30.9 करोड़ मीट्रिक टन तक पहुंच जाएगी। अगर सौर ऊर्जा और विद्युतीकरण से तेल की घरेलू खपत धीरे-धीरे कम होती है, तो भारत जितना ज्यादा शोधित करेगा, उतना ही ज्यादा विदेश जाएगा, जिससे कीमती डॉलर मिलेंगे। भारत कच्चा तेल आयात करेगा, उसे कहीं ज्यादा कुशलता से रिफाइन करेगा और वैल्यू-एडेड तेल का निर्यात करेगा - इस तरह वह इस क्षेत्र के लिए एक ऊर्जा हब के तौर पर काम करेगा।

अगर इस रास्ते पर पक्के इरादे से चलें तो भारत ऊर्जा आयातक की जगह ऊर्जा निर्यातक देश बन सकता है।

कीमतें मार्च के औसत 113.57 डॉलर पर रहती हैं, तो आयात बिल बढ़कर 200 अरब डॉलर हो जाएगा। कच्चे तेल की कीमत में प्रति बैरल दस डॉलर की वृद्धि से आयात बिल बढ़ जाता है

चुनौतियां हैं, लेकिन नामुमकिन नहीं

सौर ऊर्जा के सफर में कुछ रुकावटें हैं। सोलर पैनल लगाने के लिए बहुत ज्यादा जमीन की जरूरत होती है। यह एक असली रुकावट है, खासकर ऐसे देश में जहां खेती की जमीन कम है और उसपर अक्सर विवाद होता रहता है। इसका हल यह है कि सोलर पैनल बंजर जमीन, घरों की छतों, हाईवे और नहरों के किनारों पर लगाए जाएं। भारत में इन कामों से जुड़ी कई योजनाएं चल रही हैं।

शेष पेज 2 पर ▸

भारत के लिए सौर ऊर्जा अपनाने का समय

पेज एक का शेष

सौर पैनलों पर जमने वाली मोटी धूल को साफ करने के लिए पानी की भी जरूरत होती है, खासकर राजस्थान और गुजरात में, जहां सौर ऊर्जा की सबसे ज्यादा संभावना है, लेकिन पानी की कमी है। बिना पानी के काम करने वाले रोबोटिक पैनल क्लीनर उभरता हुआ समाधान हैं। भारत को इनका बड़े पैमाने पर अपने देश में ही उत्पादन करना चाहिए।

सबसे अहम बात यह है कि सूरज हर शाम डूब जाता है, लेकिन बिजली की मांग कम नहीं होती। भंडारण की सुविधा न होने के कारण, सौर ऊर्जा में एक बुनियादी कमी है। भारत को तत्काल बड़े पैमाने पर भंडारण की व्यवस्था करनी चाहिए। साल 2025 में, भारत ने 2.3 टेरावॉट-घंटे की साफ-सुथरी सौर ऊर्जा का इसलिए इस्तेमाल नहीं कर सका क्योंकि ग्रिड उसे संभाल नहीं पाया। यह इंजीनियरिंग और आर्थिक, दोनों ही नजरिये से नाकामी है।

फिर चीन की समस्या भी है। भारत अपने ज्यादातर सौर पैनल और उनके हिस्से चीन से आयात करता है, जिससे व्यापार असंतुलन और बढ़ जाता है। हालांकि, देश के अंदर सौर मॉड्यूल बनाने की क्षमता बढ़कर 172 गीगावॉट हो गई है। सरकार ने 2028 तक देश में ही सौर सेल और वेफर बनाने का लक्ष्य रखा है। जो भारत अपने सौर उपकरण खुद बनाएगा, वही सही मायने में ऊर्जा के मामले में आत्मनिर्भर होगा।

हमें पांच कदम उठाने होंगे। एकः सौर ऊर्जा को राष्ट्रीय सुरक्षा के बुनियादी ढांचे के तौर पर देखें, और इसे रक्षा के बराबर ही प्राथमिकता दें। इसकी फंडिंग को कम-से-कम दोगुना किया जाना चाहिए। दोः बैटरी स्टोरेज में तुरंत और बड़े पैमाने पर निवेश करें। वरना, हर शाम बिजली ग्रिड को कोयले और डीजल पर निर्भर होना पड़ेगा। तीनः राष्ट्रीय ट्रांसमिशन ग्रिड को अपग्रेड करें। राजस्थान और गुजरात जैसे सौर ऊर्जा समृद्ध राज्यों को महाराष्ट्र और तमिलनाडु जैसे ज्यादा मांग वाले केन्द्रों तक बिजली पहुंचाने में सक्षम होना चाहिए। चारः दो-पहिया, तीन-पहिया वाहनों और बसों में इलेक्ट्रिक वाहनों को अपनाने की प्रक्रिया को तेज करें, क्योंकि पेट्रोलियम का सबसे ज्यादा इस्तेमाल परिवहन क्षेत्र में ही होता है। पांचः 'पीएम सूर्य घर' और इससे जुड़ी अन्य योजनाओं के जरिये छतों पर लगने वाली सौर ऊर्जा का विस्तार करें।

भारत की बिजली की अधिकतम मांग के बढ़कर 271 गीगावॉट होने का अनुमान है, जिसकी एक वजह बढ़ती आय और एयर कंडीशनिंग का बढ़ता चलन है। इस क्षेत्र में मौके और जरूरत, दोनों ही बहुत बड़े हैं।

पश्चिम एशिया में चल रहा मौजूदा संकट हमारे लिए मौका लेकर आया है। आज की दुनिया में, जहां ऐसे युद्धों की वजह से तेल के रास्ते रातों-रात ठप हो सकते हैं जिनमें भारत की कोई भूमिका नहीं है, वहां ऊर्जा के मामले में आत्मनिर्भरता राष्ट्रीय जरूरत बन जाती है। सौर ऊर्जा का हर एक गीगावॉट, हमें 'स्ट्रेट ऑफ होर्मुज' पर निर्भरता से एक कदम और दूर ले जाता है। सड़क पर दौड़ता हर एक इलेक्ट्रिक वाहन, तेल का वह एक बैरल है जिसे भारत को आयात करने की जरूरत नहीं पड़ती। छत पर लगा हर एक सौर पैनल, राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की दिशा में उठाया गया छोटा-सा कदम है।

भारत में हर सुबह सूरज बिना किसी मोलभाव, बिना भूराजनीति और बिना कोई पैसा लिए उगता है। सवाल बस इतना है कि भारत इसे उस पैमाने और तेजी से कैसे हासिल कर सकता है जिसकी इस समय जरूरत है। ■

डॉ. अजित रानाडे जाने-माने इकोनॉमिस्ट हैं। सिंडिकेट: द बिलियन प्रेस

असम में परिसीमन

एक पंचायत में दो सांसद और तीन विधायक

सौरभ सेन

बरपेटा के 10 गांवों वाली एक पंचायत का प्रतिनिधित्व पहले लोकसभा में एक सांसद और विधानसभा में एक विधायक करते थे। अब इसी पंचायत का प्रतिनिधित्व दो सांसद और तीन विधायक करेंगे। 'स्क्रॉल' को दिए एक वीडियो इंटरव्यू में पत्रकार रोकिबुज जमान ने बताया कि यह अजीबोगरीब स्थिति 2023 में असम में चुनाव आयोग द्वारा निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन से बनी है।

पिछले दिशानिर्देश में तय किया गया था कि एक ब्लॉक या तहसील को जो सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई होती है, तोड़ा नहीं जाना चाहिए। लेकिन 2023 में चुनाव आयोग ने इसे नजरअंदाज करते हुए गांव को सबसे छोटी इकाई बना दिया और पंचायतों को बांटने का फैसला किया। है न अजीब बात!

असम के नक्शे पर नजर डालें तो आपको दिखेगा कि राजनीतिक सीमाएं इस तरह बदली गई हैं कि उनमें प्राकृतिक और प्राकृतिक बाधाओं को नजरअंदाज कर दिया गया है। हालांकि, इसका मकसद हर निर्वाचन क्षेत्र में मतदाताओं की संख्या को 'संतुलित' करना है, ताकि हर वोट का महत्व लगभग बराबर बना रहे; लेकिन, परिसीमन से किसी एक राजनीतिक दल या लोगों के किसी समूह को राजनीतिक फायदा भी तो मिल सकता है। अमेरिकी शब्द का इस्तेमाल करें तो, 2023 में असम और जम्मू-कश्मीर, दोनों ही जगहों पर 'जेरीमैंडरिंग' (चुनाव क्षेत्र की सीमाओं को चालाकी से बदलना) की गई। इस प्रक्रिया के खिलाफ कोई कानूनी चुनौती नहीं दी जा सकती थी। असम में इसे आजमाने के बाद भाजपा इसे बाकी देश पर भी थोप देती, अगर वह 17 अप्रैल 2026 को संसद से परिसीमन विधेयक पारित करवाने में असफल नहीं हुई होती।

विशेषज्ञों ने असम के संसदीय और विधानसभा क्षेत्रों के 2023 के परिसीमन को 'राज्य के हालिया राजनीतिक इतिहास में सबसे अधिक असर डालने वाला और विवादास्पद' बताया है। उनका मानना है कि 9 अप्रैल को हाल ही में संपन्न हुए विधानसभा चुनावों में यह कवायद भाजपा के पक्ष में रही।

असम में परिसीमन की प्रक्रिया की असली पेचीदगी उसकी बारीकियों में छिपी है। पहली नजर में, राज्य ने केवल एक संवैधानिक आदेश का पालन करते हुए अपनी चुनावी सीमाओं को फिर से निर्धारित किया है, ताकि जनसांख्यिकीय बदलावों को समायोजित किया जा सके। संविधान के अनुच्छेद 82 और 170 में हर जनगणना के बाद इस तरह के समायोजन का प्रावधान है। हालांकि, 2001 और 2003 में हुए संवैधानिक संशोधनों ने विधानसभा में सीटों की कुल संख्या को 126 पर स्थिर कर दिया था, और केवल 2001 की जनगणना के आधार पर सीटों के आंतरिक पुनर्गठन की ही अनुमति दी थी। इसका मतलब यह हुआ कि असम का परिसीमन- जो 1976 में हुई पिछली प्रक्रिया के लगभग 50 साल बाद किया गया-पुराने जनसांख्यिकीय आंकड़ों का इस्तेमाल करके पूरा किया गया।

इस प्रक्रिया को परिसीमन अधिनियम के तहत करने के बजाय, 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' की धारा 8ए के तहत पूरा किया गया। यह प्रावधान, जिसे विशेष रूप से पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों के लिए बनाया गया था, चुनाव आयोग को यह अधिकार देता है कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा पिछली रोक हटाए जाने के बाद वह परिसीमन की प्रक्रिया को पूरा करे। फरवरी 2020 में, राष्ट्रपति ने इस रोक को हटा दिया, जिससे इस प्रक्रिया का रास्ता साफ हो गया।

असम के लिए इसका मतलब यह था कि वहां कोई स्वतंत्र परिसीमन आयोग नहीं था, जिसकी अध्यक्षता आमतौर पर सुप्रीम कोर्ट का कोई सेवानिवृत्त न्यायाधीश करता। इसके बजाय, चुनाव आयोग ने ही असम का परिसीमन किया। किसी भी न्यायिक निगरानी के अभाव में, असम की परिसीमन प्रक्रिया में हेर-फेर की गुंजाइश बनी हुई थी।

फोटो: आईएएनएस

असम में हुए परिसीमन का शुरू से विरोध हो रहा है। 2023 में संसद के बाहर खड़े होकर तब के कांग्रेस सांसदों- अब्दुल खालिक और प्रद्युत बोरदोलोई भी ने आपत्ति जताई थी

*

इस प्रक्रिया में असम के जिलों को जनसंख्या घनत्व के आधार पर तीन श्रेणियों में बांटा गया। इसमें हर निर्वाचन क्षेत्र के लिए राज्य की औसत जनसंख्या से दस प्रतिशत तक के विचलन की अनुमति दी गई। इससे यह सुनिश्चित हुआ कि कम जनसंख्या वाले पहाड़ी जिलों का प्रतिनिधित्व कम न हो, और ज्यादा जनसंख्या वाले क्षेत्रों का दबदबा न रहे। इस दौरान व्यापक विचार-विमर्श हुआ, जिसमें 1,200 से ज्यादा सार्वजनिक प्रतिवेदनों पर चर्चा शामिल थी। इसने अनुसूचित जनजातियों के लिए अधिक प्रतिनिधित्व भी सुनिश्चित किया और स्वायत्त तथा जनजातीय क्षेत्रों की मांगों को भी पूरा किया।

राज्य सरकार के एक रिटायर्ड अधिकारी के मुताबिक, असम के परिसीमन की एकमात्र अनोखी बात प्रक्रिया से हटकर काम करना ही नहीं थी। इसने एक ऐसे अलिखित लेकिन साफ मकसद को भी पूरा किया, जिसके तहत 'सांप्रदायिक हेरफेर' के जरिये मुसलमानों और अन्य प्रमुख अल्पसंख्यक समुदायों के राजनीतिक प्रभाव को कमजोर किया गया। यह काम तीन तरीकों से किया गयाः 'क्रैकिंग' (अल्पसंख्यकों की घनी आबादी को बांटना), 'पैकिंग' (उन्हें कुछ ही सीटों में समेट देना), और 'स्टैकिंग' (उन्हें बहुसंख्यकों की बड़ी आबादी के साथ मिला देना, ताकि चुनाव में उनकी हार पक्की हो जाए)।

बरपेटा जैसी सीटों में काफी बदलाव किए गए; इनमें मुस्लिम-बहुल इलाकों को हटाना और उस सीट को एससी आरक्षित सीट में बदलना शामिल था। नाओबोइचा में, जो पहले एक मुकाबले वाली सीट थी और जहां अल्पसंख्यकों की अच्छी-खासी नुमाइंदगी थी, आरक्षण ने चुनावी माहौल को पूरी तरह बदल दिया। काटीगोराह में, आबादी के नए बंटवारे की वजह से कथित तौर पर सीट का पलड़ा हिन्दुओं के पक्ष में झुक गया। इसका कुल नतीजा यह हुआ कि उन सीटों की संख्या में भारी कमी आ गई, जहां मुस्लिम वोटरों का असर और नुमाइंदगी थी। और जब सीटों के नए बंटवारे की वजह से समुदायों का असर कम हुआ, तो नेताओं का भी असर कम हो गया- खासकर उन नेताओं का, जिन्हें इसका सबसे ज्यादा नुकसान उठाना पड़ा।

> असम के परिसीमन से संप्रदाय आधारित हेरफेर के जरिये मुसलमानों और अन्य प्रमुख अल्पसंख्यक समुदायों के राजनीतिक प्रभाव को कम करने का वह उद्देश्य हासिल कर लिया गया, जो जगजाहिर था

अहोम समुदाय के वरिष्ठ नेता और भाजपा के पूर्व सांसद राजेन गोहेन कहते हैं, 'परिसीमन ने मेरी सीट को जीतना नामुमकिन बना दिया है।' गोहेन ने 2025 के अंत में भाजपा छोड़ दी थी; वह पार्टी में 30 साल रहे और इस दौरान उन्होंने लगातार चार बार लोकसभा में नगांव का प्रतिनिधित्व किया। गोहेन मुख्यमंत्री हिमंत बिस्वा सरमा के खिलाफ मुखर रहे हैं; उन्होंने सरमा पर राज्य को एक 'व्यावसायिक उद्यम' की तरह चलाने और हाशिये पर पड़े तथा मूल निवासी समुदायों की उपेक्षा करने का आरोप लगाया है। वोटों की गिनती से पहले 'संडे नवजीवन' से हुई बातचीत में गोहेन ने कहा, 'असम में विपक्षी गठबंधन सत्ता में आ रहा है। सरमा के खिलाफ असंतोष की लहर है।'

असम में परिसीमन से बने नए राजनीतिक समीकरण असम भाजपा के अंदरूनी झगड़ों के रूप में सामने आए, जहां बिस्वा सरमा ने एक मजबूत विपक्ष का मुकाबला करने के लिए नेताओं के एक नए समूह को पार्टी में शामिल किया और उन्हें पार्टी का टिकट दिया है। गुवाहाटी में तैरती चर्चाओं के मुताबिक, आंतरिक बैठक के दौरान अमित शाह की यह टिप्पणी कि कांग्रेस से भाजपा में आए नेता और मंत्री पीयूष हजारिका ने भाजपा द्वारा लड़ी गई 90 सीटों में से 15 समर्थकों के लिए टिकट हासिल कर लिए थे, सरमा को रास नहीं आई।

हजारिका के बढ़ते कद को कम करने के लिए बिस्वा सरमा ने जयंत मल्ला बर्मन को बढ़ावा देना शुरू कर दिया जो एनएसयूआई के दिनों से ही हजारिका के कट्टर विरोधी थे। सरमा ने बर्मन को बोडोलैंड पीपल्स फ्रंट (बीपीएफ) और एजीपी (असम गण परिषद) जैसे गठबंधन सहयोगियों के लिए संपर्क सूत्र बना दिया। हजारिका की भूमिका को घटाकर सिर्फ फंड और मीडिया मैनेजमेंट तक सीमित कर दिया गया। भाजपा के बीपीएफ से गठबंधन का मतलब यह भी था कि पश्चिम बंगाल-असम सीमा पर श्रीरामपुर प्रवेश द्वार से होने वाले यातायात के प्रवाह को नियंत्रित करने वाले सिंडिकेट्स पर बीपीएफ का ज्यादा दबदबा होगा- एक ऐसी भूमिका जिसे हजारिका ने कथित तौर पर बड़े शानदार ढंग से निभाया था। असम के पुराने नेताओं ने अपनी नाराजगी जाहिर करने में कोई संकोच नहीं किया; गौतम दास जैसे अनुभवी भाजपा नेताओं ने तो बिस्वा सरमा के खिलाफ खुलकर विद्रोह करते हुए निर्दलीय उम्मीदवारों के तौर पर चुनाव लड़ने का फैसला कर लिया।

जहां एक ओर असम में अपनी स्पष्ट जीत को लेकर भाजपा में जबरदस्त उत्साह है, वहीं दूसरी ओर विपक्ष की संभावित जीत-जिसे कई एग्जिट पोल में दिखाया गया है- को लेकर चर्चा गर्माती जा रही है। हिमंत बिस्वा सरमा साफ तौर पर एक ऐसी राजनीतिक पार्टी का नेतृत्व कर रहे हैं जो आपस में बंटी हुई है।

अगर चुनावी सूचियों में की गई हेर-फेर और सीटों के नए सिरे से तय किए गए नक्शे- साथ ही तीखी सांप्रदायिक बयानबाजी- के बावजूद भाजपा को मनचाहे नतीजे नहीं मिलते हैं, तो बहुत जल्द असम के 'प्यारे मामा' के खिलाफ ही तलवारें खिंच जाएंगी। ■

सौरभ सेन कोलकाता में रहने वाले टिप्पणीकार हैं

कृपया पेज 4 भी देखें

सबसे अमीर राज्य का सबसे गरीब विधायक

विनोद निकोले देश के चुनावों में सबसे ज्यादा पैसा खर्च करने वाले राज्य महाराष्ट्र के सबसे गरीब विधायक हैं

पार्थ एम. एन.

जब उन्हें पता चला कि वह महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव लड़ रहे हैं, तब उनके नाम पर बैंक खाता तक नहीं था। उनकी पत्नी ने उन्हें 15,000 रुपये उधार दिए। वह एक आदिवासी आवासीय स्कूल में शिक्षक थीं। पार्टी के कार्यकर्ताओं ने अपनी क्षमता के अनुसार मदद की और नामांकन भरने से पहले वह कुल 52,000 रुपये जुटा पाए।

विनोद निकोले के सामने मुश्किलें और भी थीं। उनके मुख्य प्रतिद्वंदी धनारे पास्कल जन्या थे, जो पहले से विधायक थे और 2014 में डहाणू सीट से 16,000 से ज्यादा वोटों से जीते थे। वह भाजपा से थे, जिसने उस साल विधानसभा चुनाव में 82 करोड़ रुपये से ज्यादा खर्च करने की बात मानी थी। लेकिन नतीजे आने पर पैसों की कमी बेमानी साबित हुई और निकोले करीब 5,000 वोटों के अंतर से जीतकर विधायक बन गए।

पालघर जिले के आदिवासी बहुल इलाके डहाणू में अपने दफ्तर के बाहर प्लास्टिक की कुर्सी पर बैठे निकोले मुस्कुराते हुए बताते हैं- "चचेरे भाई ने मुझे करीब 70,000 रुपये उधार दिए थे। चुनाव से पहले मेरे पास यही एकमात्र नकद पैसा था।"

यह कहानी एक ऐसे भारत की लगती है जो अब कहीं नहीं दिखता। लेकिन 2019 में ऐसा हुआ और फिर 2024 में भी। तब, जब भाजपा लगातार चुनाव जीत रही थी और राजनीति ऐसा खेल जहां बिना पैसे के जीतना मुश्किल है, 48 वर्षीय निकोले भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी-मार्क्सवादी (माकपा) से बड़ी आसानी से दूसरी बार विधायक बन गए। वह भी उस राज्य में जहां 93 प्रतिशत विधायक करोड़पति हैं।

डहाणू से चार किलोमीटर दूर, वाकी गांव में ईंट भट्ठे पर काम करने वाले मजदूरों के घर जन्मे निकोले महाराष्ट्र के सबसे गरीब विधायक हैं। वह राज्य जहां चुनाव में सबसे ज्यादा पैसा खर्च होता है। निकोले पैसे नहीं बांट सकते और न ही अपनी बात फैलाने के लिए बड़ी सोशल मीडिया टीम रख सकते हैं। उनकी असली ताकत जमीन पर काम करना, आंदोलनों में शामिल होना और आम लोगों खासकर आदिवासी किसानों और मजदूरों तक आसानी से पहुंच है।

*

इस जनवरी में 10 दिनों के भीतर माकपा से जुड़े ऑल इंडिया किसान सभा (एआईकेएस) ने पालघर, नासिक और अहिल्यानगर के आदिवासी इलाकों में किसानों के दो बड़े प्रदर्शन किए। बीते 19 जनवरी 2025 को 50,000 किसान पालघर कलेक्टर कार्यालय की ओर पैदल मार्च करते हुए पहुंचे और जमीन के अधिकार और रोजगार जैसे मुद्दों पर बेहतर अमल की मांग की। लगभग एक हफ्ते बाद नासिक से हजारों किसान मुंबई की ओर मार्च करते हुए निकले, ताकि राज्य सरकार पर दबाव बनाया जा सके।

निकोले खुद वारली आदिवासी हैं और दोनों ही आंदोलनों में आगे रहे। वह किसानों के साथ चले, सबके साथ जमीन पर सोए और वही खाना खाया जो सबके लिए बना था। किसान सभा के अध्यक्ष अशोक धवले कहते हैं कि "उनकी सबसे बड़ी ताक़त यह है कि वह खुद को सामूहिक नेतृत्व और एकजुट आंदोलन का हिस्सा मानते हैं।"

इन प्रदर्शनों में शामिल रहीं करीब 60 साल से ज्यादा उम्र की इश्वती गहला कहती हैं कि किसी विधायक को आम लोगों की तरह रैली में शामिल होते देखना बहुत आश्वस्त करता है।

निकोले कहते हैं, "यह इलाका आदिवासियों का है, इसलिए यहां सबसे बड़े मुद्दे मजदूरों के अधिकार और जमीन के अधिकार हैं। यहां 50 से 60 कंपनियों में हमारी यूनियन है और हम नियमित रूप से बेहतर मजदूरी के लिए उनसे बात करते हैं, साथ ही यह भी ध्यान रखते हैं कि कंपनियों को नुकसान न हो।"

जिस दिन मैं उनसे डहाणू में मिला, वह बोईसर से आए थे जो करीब एक घंटे की दूरी पर है, जहां उन्होंने ठेका मजदूरों की बैठक को संबोधित किया था। वह बताते हैं, "हमने उनका वेतन 12,000 से बढ़ाकर 13,050 रुपये प्रति माह करवाया।"

यहां अडानी समूह का एक थर्मल पावर प्लांट भी है, जिसे पहले अनिल अंबानी संभालते थे। निकोले कहते हैं कि इस प्लांट में भी उनकी यूनियन है, जहां वह ठेका मजदूरों का वेतन बढ़ाने को लगातार प्रयासरत हैं। उसी प्लांट में ठेका मजदूर सुरेश जाधव (54) बताते हैं कि 2010 में जब उन्होंने यूनियन बनाई थी, तब उनका वेतन 2,600 रुपये था। तब निकोले विधायक नहीं थे, लेकिन यूनियन का काम संभालते थे। विधायक बनने के बाद भी वह वहां पदाधिकारी हैं, लेकिन अब उनकी जिम्मेदारियां बढ़ गई हैं। जाधव कहते हैं, "2010 में हम करीब 1,000 लोग इस प्लांट में काम करते थे। आज हमारा वेतन 28,000 रुपये प्रति माह हो गया है।"

निकोले हर आम आदमी की बात सुनते हैं और संबंधित लोगों को फोन करके समस्या के समाधान की कोशिश करते हैं। वह कहते हैं, "यही तरीका है, जिससे मैं चुनाव जीत सकता हूं। हर सुबह 10 बजे के बाद आप मुझे यहां मेरे दफ्तर के बाहर मिल सकते हैं। कोई भी आकर मुझसे बात कर सकता है।"

फोटो: पार्थ एम. एन.

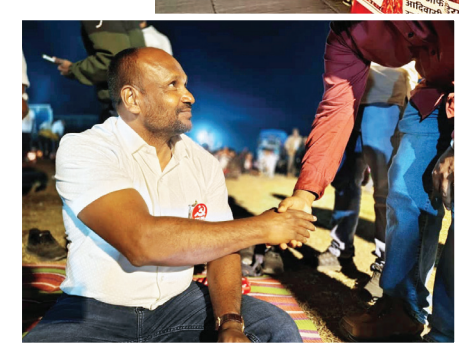

पालघर में किसानों की रैली का नेतृत्व करते (ऊपर) और लोगों से मिलते माकपा विधायक विनोद निकोले

> निकोले वारली आदिवासी हैं और आंदोलनों में आगे रहते हैं। वह किसानों के साथ चले, सबके साथ जमीन पर सोए और वही खाना खाया जो सबके लिए बना था

2024 में जब निकोले ने दूसरी बार चुनाव के लिए हलफनामा दाखिल किया, तब उनकी कुल संपत्ति 87 लाख रुपये बताई गई। इसमें ज्यादातर हिस्सा उस 0.25 एकड़ जमीन और उस पर बने उनके साधारण घर का है, जिसे उन्होंने हाल ही में खरीदा और बनाया है।

2019 में विधायक बनने के बाद उन्हें हर महीने 1.5 लाख रुपये वेतन मिलने लगा, जो 2024 के चुनाव के बाद महाराष्ट्र में बढ़कर 2 लाख रुपये हो गया। निकोले बताते हैं, "उससे पहले पार्टी मुझे हर महीने 3,000 रुपये देती थी। आज भी मैं अपनी सैलरी का आधा हिस्सा पार्टी को दे देता हूं।"

असोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स (एडीआर) ने 2024 की महाराष्ट्र विधानसभा का विश्लेषण किया, तो पाया कि राज्य के 93 प्रतिशत विधायक करोड़पति हैं। सबसे अमीर विधायक की संपत्ति 500 करोड़ रुपये बताई गई। 2024 के चुनाव के बाद, जिसमें भाजपा ने बड़ी जीत हासिल की थी, एडीआर के एक और अध्ययन में पाया गया कि 279 करोड़पति विजेताओं में से 157 (यानी 56 प्रतिशत) उम्मीदवार 50 प्रतिशत या उससे ज्यादा वोट शेयर के साथ जीते। निकोले कहते हैं कि अगर आप लोगों के दिलों और दिमाग में जगह बना लें। तब लोग अपना वोट नहीं बेचेंगे, चाहे कोई कितना भी पैसा क्यों न दे।

आर्थिक परेशानी के कारण कॉलेज छोड़ने के बाद निकोले, डहाणू के एक कैंटीन में काम करते थे। एक वरिष्ठ सीपीआई(एम) नेता की नजर उन पर पड़ी और उन्होंने उन्हें पार्टी में शामिल होने के लिए कहा। उस समय सदस्यता शुल्क 5 रुपये था। उन्होंने मजाक में उस नेता से कहा कि "आपने मेरे कैंटीन में नाश्ता किया और मुझे ही आपको 5 रुपये देने हैं? इसका उल्टा नहीं होना चाहिए क्या?" जब उन्होंने 5 रुपये की रसीद काट दी, तो नेता ने कहा, "अब तुम पार्टी के सदस्य हो।" वह कहते हैं कि "विधायक बनने के बाद भी मैं जमीनी आंदोलनों से गायब नहीं हुआ हूं, बल्कि और ज्यादा सक्रिय हो गया हूं। आगे चलकर, मैं अपने क्षेत्र में एक अच्छा अस्पताल बनवाना चाहता हूं, जो अभी तक नहीं है।" ■

अनुवाद: प्रतिमा। ruralindiaonline.org

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

करोड़ों की जीवनरेखा कावेरी खुद संकट में

इस नदी का पानी लगातार घटता जा रहा है। रही-सही कसर बारिश के बदलते पैटर्न ने पूरी कर दी है

के. ए. शाजी

फोटो: के. ए. शाजी

कावेरी को सदाबहार नदी के तौर पर नहीं देखा जा सकता। अब यह लगातार अविश्वसनीय होती जा रही व्यवस्था बनती जा रही है

दुख इस बात का नहीं कि हम कावेरी के लिए लड़ रहे हैं। दुख इस बात का है कि जिस नदी के लिए मारामारी है, वह धीरे-धीरे गायब हो रही है। अयप्पा निर्देशित मशहूर शॉर्ट फिल्म 'द स्टोरी ऑफ कावेरी' में नदी को यह कहते दिखाया गया है कि उसके पानी पर निर्भर लोग कैसे लड़-मर रहे हैं। नदी का यह कल्पित लेकिन झकझोरने वाला उद्गार भारत की सबसे विवादित नदियों में से एक की त्रासदी को दिखाता है।

दशकों से, कावेरी की पहचान अदालती लड़ाइयों, ट्रिब्यूनल के फैसलों, विरोध प्रदर्शनों और राजनीतिक तोलमोल से रही। लेकिन इस जाहिर संघर्ष के पीछे एक और कहीं गंभीर संकट है। नदी न सिर्फ अपना पानी खो रही है, बल्कि उस पारिस्थितिक संतुलन को भी खो रही है जिसने कभी देश की सबसे स्थिर कृषि प्रणालियों में से एक को जीवित रखा। लगभग 800 किलोमीटर में फैली और 81,000 वर्ग किलोमीटर से ज्यादा क्षेत्र को सींचने वाली कावेरी, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरला और पुडुचेरी में 8 करोड़ से ज्यादा लोगों का भरण-पोषण करती है। सदियों से, इसने एक बेहद व्यवस्थित सिंचाई प्रणाली को संभव बनाया है। स्थिरता का वह लंबा इतिहास अब संकट में है।

पहली नजर में, नदी संकट में नहीं दिखती। हर मॉनसून जलाशय भरते हैं, नहरें चालू हो जाती हैं और खेतों में पानी बहने लगता है। लेकिन यह मौसमी सुधार एक गहरी अस्थिरता को छिपाए हुए है। कावेरी धीरे-धीरे बारिश को भरोसेमंद जल-प्रवाह में बदलने की क्षमता खो रही है।

जलवायु अनुमानों से पता चलता है कि भारत के कुछ हिस्सों में बारिश स्थिर रह सकती है या थोड़ी बढ़ भी सकती है। फिर भी, उम्मीद यही है कि कावेरी में पानी की मात्रा कम ही रहेगी। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी गांधीनगर का बेसिन-स्तरीय जलवायु अध्ययन, जो 2026 में 'अर्थ्स फ्यूचर' में प्रकाशित हुआ, दिखाता है कि कावेरी बेसिन में पानी की प्रभावी उपलब्धता कम-से-कम 2050 तक घटती रहेगी। अध्ययन कहता है कि 2026 और 2050 के बीच जल प्रवाह में करीब 3.5 फीसद कमी आएगी। पहले की बड़ी गिरावट की पृष्ठभूमि में यह मामूली नहीं। कावेरी का जल प्रवाह 1951 और 2012 के बीच करीब 28 फीसद घट चुका है।

अध्ययन में कहा गया है, 'जहां देश की कई नदियों में जल प्रवाह बढ़ सकता है, कावेरी बेसिन में बढ़ते वाष्पोत्सर्जन और बारिश के बदलते पैटर्न से पानी लगातार घट रहा है।' हिमालयी नदियों के विपरीत, कावेरी को किसी ग्लेशियर का सहारा नहीं। यह लगभग पूरी तरह मॉनसूनी बारिश पर निर्भर है। यह निर्भरता अब ढांचागत कमजोरी बनती जा रही है। बारिश का मिजाज भी बदल रहा है। अब अक्सर बारिश कम समय के लिए, लेकिन बहुत तेज होती है, जिसके बाद लंबे समय तक सूखा रहता है। तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय के अध्ययन से पता चला है कि 'कम समय के लिए बहुत तेज बारिश की घटनाएं अब बार-बार और अधिक तीव्रता से हो रही हैं। इससे पानी का बहाव बढ़ रहा है और जमीन की पानी सोखने की क्षमता घट रही है।'

इसके असर बहुत गहरे हैं। तेजी से बहने वाला पानी भूजल को रिचार्ज होने से रोकता है, जिससे नदियों को सूखे के समय सहारा देने वाला बेस फ्लो कमजोर पड़ जाता है। साथ ही, बढ़ते तापमान से वाष्पोत्सर्जन बढ़ जाता है, जिसका मतलब है कि ज्यादा पानी हवा में उड़ जाता है।

इंसानी दखल ने इस अस्थिरता को और गहरा कर दिया है। कावेरी भारत की सबसे ज्यादा नियंत्रित नदियों में है, जिसे कर्नाटका में कृष्णराज सागर और तमिलनाडु में मेट्टूर जैसे बड़े बांधों से नियंत्रित किया जाता है। ये संरचनाएं दशकों तक सफल रहीं, लेकिन इन्होंने नदी की प्राकृतिक लय को भी बदल दिया है।

बेसिन-स्तर के आकलन बताते हैं कि 'पानी के बहाव को नियंत्रित करने से नदी की सहन-क्षमता कम हो गई है।' इसके नतीजे कावेरी डेल्टा में साफ दिखते हैं। लगभग 14.7 लाख हेक्टेयर में फैला और तमिलनाडु के चावल उत्पादन में लगभग 45 फीसद योगदान करने वाला यह डेल्टा, लंबे समय से राज्य की कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहा है। आज, यह धीमे लेकिन निर्णायक बदलाव के दौर से गुजर रहा है।

ताजे पानी के बहाव में कमी, अनियमित बारिश और समुद्र के बढ़ते जल-स्तर इस क्षेत्र का स्वरूप बदल रहे हैं। खारापन अंदरूनी इलाकों की ओर बढ़ रहा है। भूजल खारा होता जा रहा है। तटीय कटाव बढ़ रहा है। अध्ययन बताते हैं कि हाल के दशकों में, जैसे-जैसे ताजे पानी का बहाव घटा है, समुद्र जल का जमीन में घुसना तेज हो गया है। खेती के पारंपरिक चक्र- कुरुवाई और सांबा- को बनाए रखना मुश्किल होता जा रहा है। कुछ किसान दालों या मछली पालन का रुख कर रहे हैं तो कुछ जमीन परती छोड़ रहे हैं। तिरुवैयारु के किसान के. वीरपांडी कहते हैं, 'अब हम योजना नहीं बना सकते। पानी आ भी सकता है, नहीं भी। अगर आता है, तो नहीं पता होता कि कब आएगा।'

केन्द्रीय भूजल बोर्ड के आकलन में कावेरी के कई ब्लॉकों को अति-शोषित के रूप में वर्गीकृत किया गया है। आईआईटी गांधीनगर के अध्ययन से संकेत मिलते हैं कि बेसिन में सतही और भूजल-दोनों प्रणालियां दबाव में हैं

कावेरी डेल्टा किसान सुरक्षा संघ के पी.आर. पांडियन कहते हैं कि पानी छोड़ने का समय तय न होने से खेती और जोखिम भरी हो गई है। इसके साथ ही, डेल्टा एक और टकराव का केंद्र बन गया है। इस क्षेत्र को 'विशेष संरक्षित कृषि क्षेत्र' घोषित करने का मकसद इसके कृषि स्वरूप को सुरक्षित रखना था। जब यह कानून पास हुआ, किसान नेता एस. रंगनाथन ने कहा, 'इससे डेल्टा को एक हजार साल से भी ज्यादा समय तक जीवित रहने में मदद मिलेगी।' लेकिन पी. मनियारासन का तर्क है, 'इस बिल में चल रही हाइड्रोकार्बन परियोजनाओं को रोकने की शक्ति नहीं।'

यह संशय गहरा विरोधाभास दिखाता है। जहां एक ओर राज्य सरकार कृषि को बचाने का प्रयास कर रही है, वहीं दूसरी ओर बड़े पैमाने पर खनन परियोजनाएं बनाई जा रही हैं। ओएनजीसी और वेदांता के प्रस्तावों में डेल्टा क्षेत्र में सैकड़ों हाइड्रोकार्बन कुओं की खुदाई करना शामिल है। किसानों ने भूजल और मिट्टी पर प्रभावों का हवाला देते हुए इन परियोजनाओं का विरोध किया है। पर्यावरण समूहों का कहना है कि पेट्रोकेमिकल और रिफाइनरी परियोजनाएं पहले से ही नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र पर दबाव डाल रही हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों में कावेरी के कुछ हिस्सों में भारी धातुएं और रासायनिक प्रदूषक पाए गए हैं। एन.जी. निकिता गुप्ता और एस. अरुणाचलम द्वारा 2024 में फ्रंटियर्स इन पब्लिक हेल्थ में प्रकाशित अध्ययन में कहा गया है, 'मछलियों में भारी धातुओं की उपस्थिति खाद्य श्रृंखला में जैव संचय का संकेत देती है', जो पारिस्थितिकी तंत्र के लिए चिंता का विषय है।

यह प्रदूषण औद्योगिक अपशिष्ट, कृषि अपवाह और अशोधित सीवेज से उत्पन्न होता है। समय के साथ प्रदूषक जमा होते जाते हैं, जिससे विषाक्तता घनीभूत होती जाती है। यानी, बेशक पानी उपलब्ध हो, लेकिन वह हमेशा उपयोग योग्य नहीं होता। भूजल, जो कभी सुरक्षित विकल्प होता था, वह गंभीर दबाव में है। पूरे बेसिन में, जल संचयन की तुलना में दोहन अधिक हो गया है। केंद्रीय भूजल बोर्ड द्वारा किए गए आकलन, जो कावेरी बेसिन के कई ब्लॉकों को अति-शोषित के रूप में वर्गीकृत करते हैं, और आईआईटी गांधीनगर के घटते अपवाह को दिखाने वाले अनुमान, संकेत देते हैं कि बेसिन में सतही और भूजल दोनों प्रणालियां दबाव में हैं।

शहरी मांग से दबाव और बढ़ रहा है। बेंगलुरु जैसे शहर कावेरी नदी के पानी पर अत्यधिक निर्भर हैं, जिससे शहरी और कृषि उपयोगों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। इस बीच, राजनीतिक संघर्ष नदी के मार्ग को लगातार प्रभावित कर रहा है। कर्नाटका और तमिलनाडु के बीच कावेरी विवाद लंबे समय से जल आवंटन पर केंद्रित रहा है। लेकिन उपलब्धता घटने के साथ, संघर्ष अब जल बंटवारे से हटकर कमी की ओर बढ़ रहा है। नदी को अधिक स्थिर बनाने के लिए तैयार ढांचे नई जलवैज्ञानिक वास्तविकता के अनुकूल ढलने में संघर्ष कर रहे हैं। पारंपरिक जल प्रणालियां कमजोर हो रही हैं। तालाब, नहरें और स्थानीय भंडारण संरचनाएं जर्जर हो गई हैं। शहरीकरण ने जल अंतर्प्रवाह को कम कर दिया है और अपवाह को बढ़ा दिया है।

अब कावेरी को ऐसी सदाबहार नदी के तौर पर नहीं देखा जा सकता, जो स्थिरता की गारंटी हो। यह अब एक मौसमी, भारी-भरकम प्रबंधन वाली और लगातार अविश्वसनीय होती जा रही व्यवस्था बनती जा रही है। इस बेसिन में रहने वाले लाखों लोगों के लिए, यह बदलाव पहले ही शुरू हो चुका है। यह बदलाव सिंचाई की अनिश्चितता, कुओं की बढ़ती गहराई, खेती-बाड़ी से जुड़े जोखिमों और जीवन-यापन के लिए उपलब्ध संसाधनों के लगातार सिकुड़ते दायरे में साफ देखा जा सकता है।

कावेरी की कहानी सिर्फ पानी की नहीं। यह बदलते मौसम में इंजीनियरिंग से लाई गई स्थिरता की सीमाओं के बारे में है। यह एक ऐसी नदी के बारे में है जो जलवायु परिवर्तन और इंसानी दखल के परस्पर टकराते भविष्य के बीच फंसी है।

और नादान अब भी नदी के लिए लड़ रहे हैं! ■

सामान्य समझ से भी परे है नदी जोड़ो परियोजना

आईआईटी-बॉम्बे से इंजीनियर **हिमांशु ठक्कर** अभी 'साउथ एशिया नेटवर्क ऑन डैम्स, रीवर्स एंड पीपल' (सैन्ड्रप) के कोऑर्डिनेटर और 'डैम्स, रीवर्स एंड पीपल' पत्रिका के संपादक हैं। वह 25 साल से भी ज्यादा समय से जल और पर्यावरण क्षेत्र से जुड़े हैं। उन्होंने 'वर्ल्ड कमीशन ऑन डैम्स', 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' और 'सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट' के साथ काम किया है। **रश्मि सहगल** ने उनसे भारत की बिना सोचे-समझे शुरू की गई नदी-जोड़ो परियोजनाओं के बारे में बातचीत की

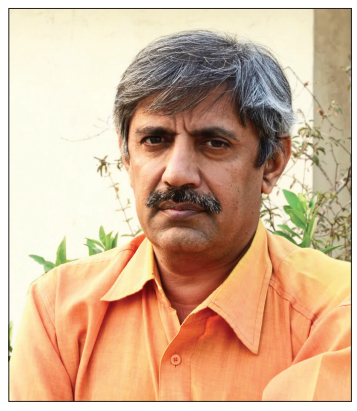

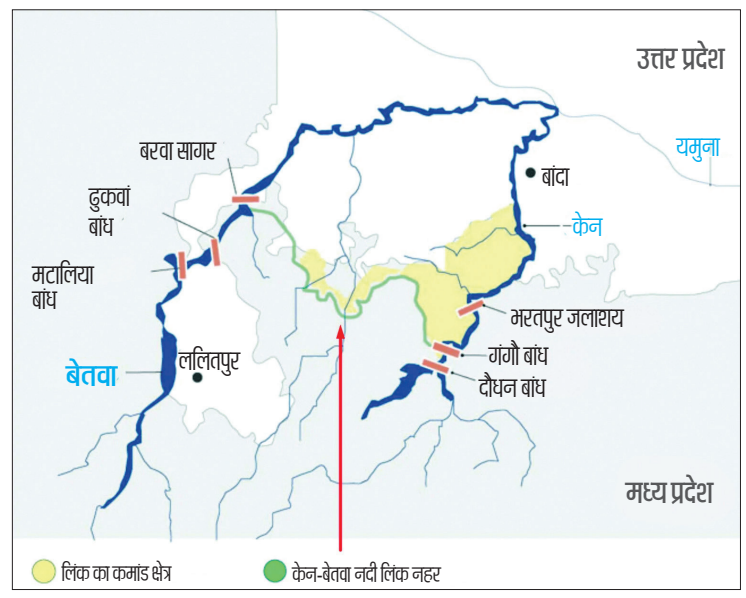

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी कहते हैं कि केन (मध्य प्रदेश) को बेतवा नदी (उत्तर प्रदेश में) से जोड़ने से 10.6 लाख हेक्टेयर जमीन की सिंचाई हो सकेगी, 62 लाख लोगों को पेयजल मिलेगा और 130 मेगावाट पनबिजली और सौर ऊर्जा पैदा होगी। क्या ये दावे सही हैं?

केन-बेतवा लिंक प्रोजेक्ट (केबीएलपी) की नींव पीएम मोदी ने दिसंबर 2024 में रखी थी। इस परियोजना के पास (वैध) वन या वन्यजीव मंजूरी नहीं है। मैं इसे साफ करता हूं। दोनों मंजूरियां इस शर्त पर दी गईं कि पनबिजली वाला हिस्सा संरक्षित क्षेत्र से बाहर रखा जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

जल-संबंधी आंकड़े अब भी सरकारी राज हैं; न तो उनकी किसी विशेषज्ञ से समीक्षा कराई गई और न उन्हें सार्वजनिक किया गया। इस नतीजे पर पहुंचने का कोई आधार नहीं है कि केन नदी में अतिरिक्त जल है, जबकि बेतवा में जल की कमी है। इससे भी बुरी बात यह है कि परियोजना के दस्तावेजों में, कहीं अधिक सस्ते, त्वरित और कम विनाशकारी विकल्पों पर विचार भी नहीं किया गया। पोलावरम बांध के संदर्भ में प्रधानमंत्री मोदी द्वारा कही गई बात को ही दोहराएं तो, राजनेता बांधों को 'एटीएम'की तरह देखते हैं।

इस प्रोजेक्ट से पर्यावरण पर पड़ने वाले असर का आकलन इतना घटिया है कि इसमें पन्ना टाइगर रिजर्व (पीटीआर) पर संभावित असर का ठीक से अध्ययन भी नहीं किया गया। जब पर्यावरण और वन मंत्रालय की नदी घाटी परियोजना पर बनी विशेषज्ञ मूल्यांकन समिति ने चार बैठकों के बाद भी प्रोजेक्ट को मंजूरी देने से मना कर दिया, तो उमा भारती (तब केंद्रीय जल संसाधन मंत्री) ने धरने पर बैठने की धमकी दी।

इसके बाद मंत्रालय ने विशेषज्ञ मूल्यांकन समिति का पुनर्गठन किया और एस.के. जैन को इसका चेयरमैन बनाया गया, और फिर दिसंबर 2016 में अपनी पहली ही बैठक में केन-बेतवा प्रोजेक्ट को मंजूरी दे दी गई। वही एस.के. जैन प्रोजेक्ट के महानिदेशक बने।

वन सलाहकार समिति (एफएसी) और सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त केन्द्रीय अधिकार प्राप्त समिति (सीईसी) ने प्रोजेक्ट के खिलाफ जोरदार तर्क दिए, लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने इसपर विचार तक नहीं किया!

वरिष्ठ वन अधिकारियों ने केन पर बांध बनाने और दोनों नदियों के बीच जोड़ नहर बनाने के खिलाफ आगाह किया था। बेतवा नदी पर पहले से ही सात बांध हैं, और उनमें से कोई भी सिंचाई विभाग द्वारा दावा की जा रही मात्रा में सिंचाई का पानी उपलब्ध नहीं कराता।

एफएसी बैठक के मिनट्स में बताया गया है कि इस प्रोजेक्ट में सिर्फ जंगल वाले इलाके से ही 46 लाख पेड़ (हर की मोटाई 20 सेंटीमीटर से ज्यादा) काटे जाएंगे। इससे जल-चक्र तो प्रभावित होगा ही, बुरा असर पड़ेगा ही, इसके अलावा पूरे इलाके के पर्यावरण, जैव-विविधता और जलवायु भी प्रभावित होगा। लेकिन इनमें से किसी भी असर का ठीक से आकलन नहीं किया गया। एफएसी और नेशनल बोर्ड फॉर वाइल्डलाइफ (एनबीडब्ल्यूएल) ने बांध की ऊंचाई घटाने, बांध में आने वाले सारे पानी को पर्यावरण के लिए जरूरी बहाव के तौर पर छोड़ दिया जाए। वे इस दावे का एक स्वतंत्र आकलन करवाना चाहते थे कि बुंदेलखंड के लिए कोई दूसरा विकल्प है ही नहीं। सीईसी की रिपोर्ट ने यह बात पक्के तौर पर साबित कर दी थी कि यह दावा झूठा था।

इस प्रोजेक्ट को एक खास यूएसपी के साथ बेचा गया था: कि यह बुंदेलखंड की पानी की समस्या को हल करेगा। लेकिन शुरू से ही, डिटेल्ड प्रोजेक्ट रिपोर्ट (डीपीआर) से पता चला कि इस प्रोजेक्ट का मुख्य मकसद रायसेन और विदिशा जैसे ऊपरी बेतवा बेसिन इलाकों तक पानी पहुंचाना था। तो, केन-बेतवा प्रोजेक्ट असल में सूखे की मार झेल रहे बुंदेलखंड से पानी बाहर भेजने का काम करेगा!

यह प्रोजेक्ट 45,000 करोड़ रुपये की लागत से छह जिलों (मध्य प्रदेश और यूपी के तीन-तीन) में 6.35 लाख हेक्टेयर खेती की जमीन की सिंचाई का वादा करता है और इसी के साथ निर्माण और पर्यटन के क्षेत्र में लोगों को रोजगार भी मिलेगा।

परियोजना पर 45,000 करोड़ रुपये खर्च करने का औचित्य नहीं है। जमीनी हकीकत यह है कि इस इंटरलिंकिंग का मकसद न तो इस इलाके के आदिवासी लोगों की मदद करना है, और न ही यूपी के बांदा जिले के निचले इलाकों में रहने वाले लोगों की। बुंदेलखंड के ज्यादातर हिस्से में सालाना औसत बारिश 900 एमएम से ज्यादा होती है; अगर बारिश के इस पानी को जमा कर लिया जाए, तो बुंदेलखंड की पानी की समस्या हल हो सकती हैं। इससे कहीं बेहतर विकल्प मौजूद हैं। चार दशक पहले, बुंदेलखंड पानी की कमी के लिए नहीं जाना जाता था। यह घने जंगलों और अच्छी स्थानीय जल प्रणालियों वाला इलाका था। लगातार उपेक्षा के कारण आज यह स्थिति पैदा हुई है, और यह परियोजना केन नदी की जल-वैज्ञानिक रीढ़ को ही तबाह कर देगी।

हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि तथाकथित 'अधिशेष' और 'घाटे वाले' बेसिनों के बीच का अंतर कम हो गया है, जो नदियों को आपस में जोड़ने के औचित्य को और कमजोर करता है। अध्ययनों ने यह भी दिखाया है कि नदी जोड़ परियोजनाएं बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर में थर्मल और तापमान ग्रेडिएंट पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती हैं, जिससे हमारे मानसून पर असर पड़ सकता है; लेकिन सरकार ने इन आंकड़ों को नजरअंदाज करना ही चुना है।

लेकिन सरकार बड़े पैमाने पर नदियों को जोड़ने की योजना बना रही है- पंजाब, केरला, तेलंगाना में... क्या यह सच में मुमकिन है?

नदी-जोड़ की अवधारणा ही गलत है। यह सोचना कि बाढ़ का मतलब पानी की अधिकता है और सूखा का मतलब पानी की कमी, गलत है। इस तर्क के हिसाब से, राजस्थान के कुछ हिस्सों में आजकल पानी की अधिकता है, क्योंकि वहां जरूरत से ज्यादा बारिश हुई है, और 'मेघों के घर' मेघालय के कुछ हिस्से में पानी की कमी है। गन्ने और धान जैसी ज्यादा पानी वाली फसलें किसी भी इलाके को सूखा-ग्रस्त बना सकती हैं। इसलिए, नदी जोड़ की यह अवधारणा अपने आप में ही गलत है। ठीक वैसे ही, जैसे यह मानना कि समुद्र में बहकर जाने वाला पानी बेकार चला जाता है। नदियों का काम ही समुद्र की ओर बहना है, और मुहाने- जहां नदी समुद्र से मिलती है- वे सबसे ज्यादा उपजाऊ और जैव-विविधता वाले इलाके होते हैं।

सभी राज्य दूसरे राज्य से पानी लेने को तैयार रहते हैं, लेकिन कोई भी राज्य दूसरे राज्य को पानी देना नहीं चाहता- सत्ता में बैठी पार्टी इसे अपने लिए आत्मघाती मानती है।

केन-बेतवा प्रोजेक्ट से पन्ना टाइगर रिजर्व के बीचों-बीच 6,017 हेक्टेयर वन भूमि डूब जाएगी। केन घड़ियाल अभयारण्य भी खतरे में होगा?

पीटीआर पर इस प्रोजेक्ट के बुरे असर के बारे में सीईसी की रिपोर्ट में भी विस्तार से बताया गया है। पीटीआर बाघों, तेंदुओं, स्लोथ भालुओं, चिंकारा, चौसिंगा, भेड़ियों, मगरमच्छों, लंबे थूथन वाले घड़ियालों, महाशीर मछलियों और शिकारी पक्षियों की कई प्रजातियों का घर है। इस इलाके में धारीदार लकड़बग्घे, सिवेट बिल्लियां, सियार, लोमड़ियां, नीलगाय, चीतल, सांभर, जंगली सूअर, लंगूर और रीसस बंदर भी पाए जाते हैं।

यह विशाल बांध अपने ऊपरी हिस्से में मौजूद जलीय जीवों को अलग-थलग कर देगा, जिसका सीधा असर बांध के ऊपर और नीचे, दोनों तरफ के जलीय जीवों की प्रजनन आदतों पर पड़ेगा। लेकिन, यह बात ज्यादा लोगों को पता नहीं है कि केबीएलपी भारत के कुछ भूवैज्ञानिक अजूबों को भी नष्ट कर देगा। प्रस्तावित बांध स्थल से ठीक नीचे की ओर स्थित 'राणेह फॉल्स' को भारत का 'मिनी ग्रैंड कैन्यन' और 'मिनी-नियाग्रा' कहा जाता है। इस अद्भुत भूवैज्ञानिक स्थल के हमेशा के लिए नष्ट हो जाने की आशंका है।

आप हमारे जल क्षेत्र की संस्थागत संरचना में आमूल-चूल बदलाव की तत्काल आवश्यकता और 'केन्द्रीय जल आयोग' को भंग करने के मुद्दे पर मुखर रहे हैं।

सीडब्ल्यूसी के पास कई ऐसे काम और जिम्मेदारियां हैं जो आपस में टकराते हैं, और इसका रिकॉर्ड भी बहुत खराब रहा है। जल विज्ञान, भू-आकृति विज्ञान, नदियां, बांधों की सुरक्षा और डिजाइन, बाढ़ की भविष्यवाणी, बाढ़ प्रबंधन और शुरुआती चेतावनी प्रणालियों जैसे क्षेत्रों -जिन्हें इसकी मुख्य विशेषज्ञता वाला क्षेत्र माना जाता है- सीडब्ल्यूसी बड़े बांधों के लिए एक लॉबी की तरह ज्यादा काम करता है, और इसकी जवाबदेही भी बहुत कम है।

हमारे जल संसाधनों की हालत चिंताजनक है। हम अब तक भूजल को अपने बैक-अप के तौर पर इस्तेमाल करते हुए किसी तरह काम चलाते रहे हैं। भूजल ही हमारी जल-जीवनरेखा है। पिछले 50 सालों में भारत ने जितना भी अतिरिक्त पानी इस्तेमाल किया है, उसका 90 फीसद हिस्सा भूजल ही था और इसमें सीडब्ल्यूसी की कोई भूमिका नहीं रही। सीडब्ल्यूसी के बांधों के समर्थन वाले रवैये की वजह से, हमारी स्थानीय जल प्रणालियों, नदियों और आर्द्रभूमियों को नजरअंदाज कर दिया गया है और उन्हें नष्ट कर दिया गया है। भूजल के फिर से भरने की प्रक्रिया पर बहुत बुरा असर पड़ा है, और अब यह स्थिति तेजी से आईसीयू जैसी गंभीर हालत की ओर बढ़ रही है।

हमें किस तरह के स्थानीय जल प्रबंधन समाधान अपनाने चाहिए?

स्थानीय और भागीदारी वाला प्रबंधन ही जल प्रशासन की रीढ़ होना चाहिए। इसमें जल संसाधनों की निगरानी, प्रबंधन और विकास के सभी पहलू शामिल होने चाहिए- जैसे कि भूजल, नदियां, स्थानीय जल प्रणालियां, साथ ही वर्षा की निगरानी और रेत खनन। वर्षा जल संचयन, भूजल पुनर्भरण, जल बजट बनाना और सही फसलों का चुनाव- ये काम स्थानीय समुदायों पर ही छोड़ना बेहतर है। ■

3 मई का सवाल: किसकी कब्र खोदी चुनाव आयोग ने?

मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने चुनाव आयोग और मोदी सरकार की कुत्सित मंशाओं को हर वक्त उजागर किया

ए.जे. प्रबल

आज के भारत का कोई भी वयस्क, जिसे संविधान से वोट देने का अधिकार मिला है, एसआईआर को कभी नहीं भूलेगा। यहां तक कि भारत के वे लाखों अनपढ़ भी नहीं, जिन्हें इन डरावने अक्षरों का मतलब पता भी नहीं होगा।

4 नवंबर 2025 को शुरू हुए एसआईआर के दूसरे चरण में चुनाव आयोग का बंगाल पर खास ध्यान रहा, हालांकि इस दौर में कुल 12 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में एसआईआर हो रहा था। बंगाल के लोगों को बखूबी अंदाजा था कि क्या होने वाला है, क्योंकि बिहार उनके सामने था जहां वोटर लिस्ट से हटाए लाखों लोग अपने नाम जुड़वाने के लिए पसीने बहा रहे थे। चाहे उनका झुकाव किसी भी तरफ हो- न वोटर, न जानकार और न कोई ईमानदार चुनावी सर्वे करने वाला- कोई भी यकीन से नहीं कह सकता कि यह तथाकथित 'स्वतंत्र और निष्पक्ष' प्रक्रिया असल में कितनी ज्यादा 'मैनेज' की गई। क्या चुनाव आयोग ने अपने राजनीतिक आकाओं के फायदे के लिए इस प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए बहुत कुछ किया है?

कई चुनावी मुकाबलों पर बारीक नजर रखने वाले एक जानकार ने पहचान जाहिर न करने की शर्त पर कहा, 'अगर भाजपा बंगाल जीत जाती है, तो इसकी वजह एसआईआर होगा। लेकिन अगर इतनी कोशिशों के बाद भी वह फिर हार जाती है, तो इसकी वजह भी एसआईआर ही होगी।' सुनने में यह विरोधाभासी लग रहा, लेकिन असल में है नहीं। अगर आप एक पल के लिए एसआईआर को नजरअंदाज कर दें और सिर्फ मतदाताओं के मिजाज पर गौर करें, तो पाएंगे कि यहां की जनता और भाजपा, दोनों एक-दूसरे के लिए अभी तैयार नहीं, ममता के 15 साल की सत्ता और 'पोरिबोर्तन' की जरूरत के बारे में इतनी सारी बातों के बाद भी नहीं। शायद फिर भी 'पोरिबोर्तन' हो जाए- स्वाभाविक रूप से जनता के जनादेश से नहीं, तो भाजपा और चुनाव आयोग के साझा प्रयास से। लेकिन अगर ऐसा नहीं होता है, तो इसमें चुनाव आयोग को लेकर मतदाताओं में बैठे जबर्दस्त गुस्से की बड़ी भूमिका होगी।

*

कुछ समय तक लगा कि चुनाव आयोग अपने असली एजेंडे यानी भाजपा के फायदे के लिए वोटर लिस्ट में बदलाव, को छिपाने की कोशिश कर रहा है। भाजपा ने इसके लिए अपने समर्थन को कभी नहीं छिपाया और कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह सोच सकता है कि आखिर सिर्फ विपक्ष ही बड़े पैमाने पर लोगों के नाम काटे जाने को लेकर क्यों चिंतित है।

भाजपा के एक बड़े मतुआ नेता और राज्य की बनगांव लोकसभा सीट से पार्टी का प्रतिनिधित्व करने वाले केन्द्रीय मंत्री शांतनु ठाकुर ने कहा कि 2 लाख रोहिंग्याओं को बाहर निकालने के लिए 20,000 हिन्दुओं की कुर्बानी बेहतर है। लेकिन दिसंबर 2025 की ड्राफ्ट लिस्ट में एएसडीडी (अनुपस्थित/ स्थानांतरित/मृत/ डुप्लीकेट) श्रेणी के तहत काटे गए 58.2 लाख नामों में से एक भी नाम न तो रोहिंग्या था और न बांग्लादेशी।

इसके फौरन बाद चुनाव आयोग ने एक रहस्यमयी सॉफ्टवेयर लागू किया, जिसने 1.3 करोड़ मतदाताओं को 'तार्किक विसंगति' अस्थायी रूप से नाम हटाने की एक नई श्रेणी- के लिए चिह्नित किया, और उनसे व्यक्तिगत सुनवाई के दौरान दस्तावेज पेश करने को कहा। प्रवासी मजदूर, पुरुष, महिलाएं, बुज़ुर्ग और बीमार लोग, जो भी दस्तावेज जुटा सके, उन्हें पेश करने के लिए कतारों में खड़े हो गए। कलकत्ता हाईकोर्ट के रिटायर्ड जस्टिस शाहिदुल मुंशी ने बताया कि उन्हें न तो कोई रसीद दी गई और न ही इस बात का कोई सबूत कि उनकी बात 'सुनी' गई। 'बार एंड बेंच' में प्रकाशित एक इंटरव्यू के बाद, उनका नाम तो तुरंत बहाल कर दिया गया, लेकिन बाकी इतने भाग्यशाली नहीं रहे।

एसआईआर से पहले का 7.66 करोड़ का मतदाता आधार दिसंबर 2025 की ड्राफ्ट सूची में घटकर 7.08 करोड़ रह गया। 28 फरवरी 2026 की अंतिम सूची में लगभग 60 लाख नाम 'निर्णय के अधीन' रखे गए थे। न्यायिक अधिकारियों द्वारा 32 लाख नामों को मंजूरी देने के बाद भी 27 लाख लोग मताधिकार से वंचित रह गए। 23 अप्रैल तक (पहले चरण की वोटिंग का दिन), कुल 138 अपीलों पर सुनवाई हुई और 136 को लिस्ट में शामिल करने की मंजूरी दी गई; दूसरे चरण तक (29 अप्रैल को) 1,474 और अपीलों पर सुनवाई हुई और 1,468 नामों को फिर सही ठहराया गया। इस रफ्तार से अगर काम चलता रहा, तो बाकी अपीलों पर सुनवाई में ट्रिब्यूनल को 10-12 साल लग जाएंगे!

बंगाल के एसआईआर के दुःस्वप्न के खत्म होने पर, इस चुनाव के लिए राज्य में वोट डालने के लायक लोगों की संख्या, एसआईआर से पहले के 7.66 करोड़ के आंकड़े से करीब 90 लाख कम थी!

हैरानी नहीं कि भाजपा के जिस वरिष्ठ नेता ने नाम न बताने की शर्त पर बात की, उन्हें लगा कि लोगों का गुस्सा पार्टी को नुकसान पहुंचा सकता है; लेकिन उन्होंने यह भी माना कि उनमें दिल्ली में बैठे पार्टी के बड़े नेताओं को इस संभावित विरोध के बारे में आगाह करने की हिम्मत नहीं थी। उन्होंने बताया कि बंगाल में एसआईआर ने सत्ता-विरोधी लहर को पूरी तरह दबा दिया। एसआईआर से पहले चर्चा में रहे सभी मुद्दे- भ्रष्टाचार, रोजगार, उद्योगों की कमी, भर्ती घोटाले- चुनावी चर्चा से पूरी तरह गायब हो चुके थे।

मुसलमानों ने सत्ताधारी तृणमूल कांग्रेस का साथ दिया, क्योंकि उन्हें पक्का यकीन था कि एसआईआर उन्हें नागरिकता से वंचित करने की एक शैतानी साजिश है। यहां तक कि मतुआ समुदाय- बांग्लादेश से आए अनुसूचित जाति के हिन्दू, जिनमें कई के नाम लिस्ट से हटा दिए गए थे- ने भी खुल को छला महसूस किया। प्रवासी मजदूरों में भी आने-जाने के दौरान होने वाली परेशानी और आर्थिक नुकसान को लेकर भारी गुस्सा था।

*

मतदान रिकॉर्ड 92.4 फीसद रहा और टीएमसी और भाजपा, दोनों ही आश्वस्त दिखे कि जनादेश उनके पक्ष में है। भाजपा यकीन दिलाना चाहती है कि सियासी हवा 'पोरिबोर्तन' की तरफ बह रही है, वहीं टीएमसी का जोर है कि हवा 'प्रत्याबोर्तन' के लिए बह रही है- यानी 71 साल की ममता बनर्जी की चौथी बार मुख्यमंत्री के तौर पर वापसी। दिल्ली लौटने से पहले, केन्द्रीय गृहमंत्री अमित शाह ने पूरा भरोसा दिखाया कि भाजपा को पूर्ण बहुमत मिलेगा, यहां तक कि उन्होंने एक आंकड़ा भी बताया- 177- जो कुछ ज्यादा ही सर्वज्ञानी जैसा था। याद रखें, उन्होंने 2021 में भाजपा के लिए 200+ बहुमत की भविष्यवाणी की थी!

अगर भाजपा का दावा सच है, तो चुनाव से पहले इतना सुरक्षा बंदोबस्त क्यों? 2.8 लाख सीएपीएफ जवानों की तैनाती एक हमले जैसा लग रहा है। (संदर्भ के लिए, मणिपुर में 2023 की जातीय हिंसा के पीक पर 29 हजार सीएपीएफ जवान भेजे गए थे।) एनआईए (नेशनल इन्वेस्टिगेटिंग एजेंसी), जिसे आम तौर पर आतंकवाद-विरोधी काम सौंपा जाता है, पोलिंग बूथों के आसपास क्यों घूम रही थी। सेंट्रल सैनिक पोलिंग के दिन सुबह 1 बजे भवानीपुर (ममता बनर्जी का चुनाव क्षेत्र) में कोलकाता के मेयर फिरहाद हकीम को क्यों धमका रहे थे- 'आप मेयर साब हो ना? अगर कुछ हुआ तो आप के लिए अच्छा नहीं होगा'?

*

अगर ममता हारती हैं, तो उन्हें एक ऐसे शहीद के तौर पर देखा जाएगा जिसे एक बेईमान विरोधी ने सरकारी मशीनरी और पक्षपाती चुनाव आयोग की मदद से हरा दिया। ज्यादातर एग्जिट पोल ने कांटे की टक्कर का अनुमान लगाया है; कुछ ने भाजपा को बहुमत मिलने की भविष्यवाणी की, तो कुछ ने टीएमसी को। ऐतिहासिक रूप से, बंगाल में चुनावी फैसला एकतरफा रहा है- जीतने वाली पार्टी ने 294 में से 200 से ज्यादा सीटें हासिल कीं। पिछले तीन चुनावों (2011, 2016, 2021) में, टीएमसी ने क्रमशः 226, 211 और 215 सीटें जीतीं। 1996 में वाम दल 200 सीटों के आंकड़े से चार सीट पीछे रह गया, लेकिन अगले चुनाव में उसने सीट संख्या 235 तक पहुंचाकर इसकी भरपाई की। देखना है कि क्या यह रुझान जारी रहता है।

पांच साल पहले, पीपल्स पल्स और ऐक्सिस माई इंडिया ने अनुमान लगाया था कि भाजपा 173-192 सीटें जीतेगी पर भाजपा के खाते में आईं 77 सीटें। इस बार, ऐक्सिस माई इंडिया ने अनुमान लगाने से इस आधार पर परहेज किया कि 70 फीसद मतदाताओं ने नहीं बताया कि उन्होंने किसे वोट दिया। पीपल्स पल्स ने भाजपा के लिए 95-110 सीटों का अनुमान लगाया, और टीएमसी को 177-187 सीटों के साथ आसान जीत हासिल करते दिखाया है।

हालांकि एग्जिट पोल शेयर बाजार और 'सट्टा बाजार' में हलचल मचा देते हैं, और जोखिम उठाने वाले एक-दो करोड़ कमा भी लेते हैं। बाकी के लिए, जिन्हें राजनीतिक ड्रामे में दिलचस्पी है, एग्जिट पोल बेहतरीन मनोरंजन हैं-पीवीआर में मूवी टिकट के बराबर तो जरूर! ■

कुणाल चटर्जी के इनपुट के साथ

> कई चुनावी मुकाबलों पर बारीक नजर रखने वाले एक जानकार ने पहचान जाहिर न करने की शर्त पर कहा, 'अगर भाजपा बंगाल जीत जाती है, तो इसकी वजह एसआईआर। लेकिन अगर इतनी कोशिशों के बाद भी वह फिर हार जाती है, तो इसकी वजह भी एसआईआर'

सीमाओं से सियासत साधने की साजिश

परिसीमन तकनीकी प्रक्रिया भर नहीं। यह राज्यों, समुदायों और दलों के बीच शक्ति संतुलन को बदल सकता है

हरजिंदर

अक्सर परिसीमन को रूखी-सूखी संवैधानिक भाषा में इस तरह से पेश किया जाता है कि जैसे यह बस बराबर प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं का समय-समय पर होने वाला पुनर्निर्धारण है। कागज पर यह एक तटस्थ प्रशासनिक सुधार लगता है- आबादी के हिसाब से निर्वाचन क्षेत्रों को संतुलन बनाने की कवायद। लेकिन भारत में परिसीमन तकनीकी प्रक्रिया भर नहीं है। यह राजनीतिक रूप से संवेदनशील, सामाजिक रूप से समस्याओं भरा और संवैधानिक दृष्टि से काफी गंभीर मामला है, जो कई पीढ़ियों तक राज्यों, समुदायों और राजनीतिक दलों के बीच शक्ति संतुलन को बदल सकता है।

जैसे-जैसे भारत 2026 की उस समय-सीमा के करीब पहुंच रहा है, जब सीटों के गणित पर दशकों पुरानी रोक समाप्त होने वाली है, देश स्वतंत्रता के बाद के सबसे महत्वपूर्ण संघीय टकराव के मुहाने पर खड़ा है। अगर इसे सिर्फ आबादी का हिसाब लगाकर यांत्रिक ढंग से लागू किया गया, तो परिसीमन केवल चुनावी पुनर्संरचना नहीं, बल्कि बड़ा संवैधानिक संकट पैदा कर सकता है।

बेशक, 'एक व्यक्ति, एक वोट' का सिद्धांत लोकतंत्र का आधार है। भारत जैसे विशाल और बहुलता वाले संघीय गणराज्य में लोकतंत्र केवल अंकगणित से नहीं चल सकता। प्रतिनिधित्व को उस संघीय समझौते की भी रक्षा करनी होगी, जो इसे एकजुट रखता है। जिन राज्यों ने परिवार नियोजन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और आर्थिक आधुनिकीकरण में निवेश किया, उन्हें उनकी सफलता के लिए ऐसे दंडित नहीं किया जा सकता कि उनका संसदीय प्रतिनिधित्व घट जाए, जबकि जिन राज्यों में जनसंख्या वृद्धि अनियंत्रित रही, उन्हें राजनीतिक लाभ मिले।

इसीलिए 1971 की जनगणना के बाद भारत ने सीट आवंटन को स्थिर कर दिया था। मकसद साफ था- दक्षिणी और बेहतर प्रदर्शन करने वाले राज्यों को राष्ट्रीय जनसंख्या नियंत्रण लक्ष्यों को लागू करने के कारण दंडित नहीं किया जाएगा। इस सावधानी से संतुलित व्यवस्था को 2001 में आगे बढ़ाया गया। अब इसकी अवधि खत्म होने वाली है। इसके बाद संवैधानिक प्रावधान नवीनतम जनगणना, जो फिलहाल जारी है, के आधार पर सीटों के बंटवारे का रास्ता साफ हो जाएगा।

इसके नतीजे तबाही ला सकते हैं। इससे हिन्दी पट्टी के राज्यों की संसदीय ताकत काफी बढ़ जाएगी, जबकि दक्षिणी राज्यों की आवाज कमजोर पड़ जाएगी। यह केवल संख्या घटने का मामला नहीं है, तमिलनाडु, केरला, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तेलंगाना राजनीतिक हाशिये पर धकेले जाने का भय महसूस कर रहे हैं। उनकी चिंता काल्पनिक नहीं, अस्तित्वगत है। अगर प्रतिनिधित्व के आधार पर तय हुआ तो हमारा संघ खुद अस्थिर हो सकता है।

तमिलनाडु के मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन ने इसे "सोची-समझी चाल" और "काला कानून" बताया है। उनका कहना है कि इसका मकसद दक्षिणी राज्यों को निशाना बनाना है। डीएमके प्रवक्ता सलेम धरणीधरन ने कहा है कि मौजूदा व्यवस्था को कम-से-कम अगले 25 वर्षों तक जारी रहना चाहिए, जैसे पहले उन राज्यों की रक्षा की गई थी जिन्होंने जनसंख्या नियंत्रण जैसे राष्ट्रीय लक्ष्यों को पूरा किया।

यह संकट केवल उत्तर बनाम दक्षिण का नहीं है। सवाल यह भी है कि यह काम किसके नियंत्रण में होगा।

ऐसे समय में जब देश पहले से ही विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) जैसे अभियानों से चिंतित है, परिसीमन इतना गंभीर विषय है कि इसे केवल सरकार के विवेक पर नहीं छोड़ा जा सकता। इस पर कोई सार्थक राष्ट्रीय विमर्श शुरू नहीं हुआ है। आम सहमति बनाने की कोई कोशिश भी दिखाई नहीं देती। इसके बावजूद कि इसके प्रभाव बहुत बड़े हैं, यह मुद्दा अभी भी दलगत समीकरणों में फंसा हुआ है।

ब्राउन विश्वविद्यालय की वरिष्ठ विजिटिंग फेलो यामिनी अय्यर ने इस चिंता को तीखे ढंग से व्यक्त करते हुए चेतावनी दी कि भाजपा के पास परिसीमन को इस प्रकार आकार देने के साफ चुनावी फायदे हैं, जिससे उसकी सत्ता और मजबूत हो। जम्मू कश्मीर और असम के हालिया अनुभव भी यही कहते हैं।

असम का परिसीमन यह बताता है कि इस प्रक्रिया का दुरुपयोग कैसे हो सकता है। 2009 की तरह ब्लॉक या तहसील को मूल प्रशासनिक इकाई मानने के बजाय इस परिसीमन में गांवों को आधार बनाया गया। इस 'सर्जिकल' तरीके ने अभूतपूर्व स्तर पर जनसांख्यिकीय इंजीनियरिंग की।

उदाहरण के लिए, बरपेटा में मुस्लिम मतदाताओं की हिस्सेदारी लगभग 60 प्रतिशत से घटकर 35 प्रतिशत के करीब आ गई। वहां मुस्लिम बहुल पंचायतों को हटाकर हिन्दू बहुल क्षेत्रों को जोड़ा गया। इससे सिर्फ सीमाएं नहीं बदलीं, बल्कि राजनीतिक नतीजे भी बदल गए। अल्पसंख्यक बहुल क्षेत्रों में टेढ़ी-मेढ़ी निर्वाचन सीमाएं उभरीं, जबकि सत्तारूढ़ दल के गढ़ अपेक्षाकृत पारंपरिक आकार में बने रहे। ऐतिहासिक रूप से असम लोकसभा में दो मुस्लिम सांसद भेजता था। 2023 के परिसीमतन के बाद केवल एक चुना गया।

राजनीतिक संदेश लगभग स्पष्ट था। असम के मुख्यमंत्री हिमंत बिस्वा सरमा ने सार्वजनिक रूप से दावा किया कि परिसीमन ने 'स्वदेशी' समुदायों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित किया है। जबकि एक वरिष्ठ मंत्री ने खुले तौर पर कहा कि मुस्लिम विधायकों की संख्या घटेगी।

असम का उदाहरण एक भयावह प्रश्न उठाता है- अगर परिसीमन का इस्तेमाल एक राज्य में जेरिमैंडरिंग के औजार के रूप में किया जा सकता है, तो राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे प्रयोगों को कौन रोकेगा?

पूर्व लोकसभा महासचिव पी.डी.टी. आचार्य ने सही कहा है कि संसद कुल सीटों की संख्या बढ़ाने का प्रस्ताव कर सकती है, लेकिन मनमाने फार्मूले जैसे एक समान प्रतिशत वृद्धि को केवल सरकारी आदेश से लागू नहीं किया जा सकता। ऐसे किसी भी प्रयास के लिए स्वतंत्र संस्थागत व्यवस्था आवश्यक है।

इसीलिए परिसीमन को कार्यपालिका की मनमर्जी या सत्तारूढ़ दल की चुनावी महत्वाकांक्षाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए राष्ट्रीय सहमति, संवैधानिक दूरदृष्टि और एक वास्तविक रूप से स्वतंत्र संस्था की आवश्यकता है, जो दलगत उद्देश्यों से परे हो।

भारत को तत्काल एक तार्किक और वैज्ञानिक फार्मूले की आवश्यकता है, जो जनसंख्या के साथ-साथ विकास की उपलब्धियों, संघीय स्थिरता और लोकतांत्रिक निष्पक्षता का संतुलन बनाए। जो भी तरीका अपनाया जाए, उस पर गंभीर बहस होनी चाहिए। एकतरफा फैसला और उसके बाद जो चुप्पी दिखाई दी, वह स्वीकार करने लायक नहीं है।

राहुल गांधी पहले ही आरोप लगा चुके हैं कि फिलहाल जो हो रहा है, वह शासक दल को 2029 से पहले लोकसभा सीटों की हेराफेरी की अनुमति दे सकता है। यह संदेह खुद विश्वास के खतरनाक क्षरण की ओर इशारा करता है।

तुरंत ही कुछ करना होगा। जनगणना 2027 तक इस बहस को फिर भड़का देगी, और यदि अभी सहमति बनाने में देरी हुई, तो आगे संघर्ष और तेज होगा।

परिसीमन को ऐसा राजनीतिक हथियार नहीं बनने देना चाहिए, जो किन्हीं हितों के अनुरूप भारत के लोकतांत्रिक मानचित्र को पुनर्गठित कर दे। इसे गलत ढंग से किया गया, तो यह सिलसिला संवैधानिक विघटन में बदल सकता है- जहां प्रतिनिधि संस्थाओं में न्याय, संतुलन और विश्वास की झलक नदारद हो। ■

> असम का परिसीमन यह बताता है कि इस प्रक्रिया का दुरुपयोग कैसे हो सकता है। 2009 की तरह ब्लॉक या तहसील को मूल प्रशासनिक इकाई मानने के बजाय इस परिसीमन में गांवों को आधार बनाया गया। इसने अभूतपूर्व स्तर पर जनसांख्यिकीय इंजीनियरिंग की

दोनों फोटो: गेटी इमेजेज

असम विधानसभा चुनाव के दौरान नगांव के एक बूथ पर कतारबद्ध मतदाता

गरीबों की पहुंच से कितनी दूर चली गई शिक्षा

निजीकरण को रणनीतिक तौर वहां पहुंचा दिया गया कि वह शिक्षा को गरीबों से दूर करने का मॉडल बन गया

गुरदीप सिंह सप्पल

फोटो: गेटी इमेजेज

सरकार गरीबों की बात तो बहुत करती है लेकिन इसने शिक्षा को व्यापार का संसाधन बना दिया है

नेहरूवादी भारत में एक समय था जब गरीबों को एक सरल लेकिन क्रांतिकारी विचार पर विश्वास थाः 'पढ़ जाएंगे, तो बढ़ जाएंगे'। बेहतर जीवन के वास्ते शिक्षा को लेकर इस सहज भरोसे के क्रांतिकारी निहितार्थ थे। शिक्षा समानता लाने का जरिया थी- गरीबी से, जन्मना मिली सामाजिक-आर्थिक कमजोरियों से उबरने और जाति-प्रथा की बेड़ियों से मुक्ति पाने का एक जरिया।

हमारे संविधान ने शिक्षा का अधिकार सुनिश्चित किया। सरकारी विश्वविद्यालय, आईआईटी-आईआईएम तथा सरकारी मेडिकल कॉलेज सामाजिक गतिशीलता की भौतिक संरचना के वाहक बने। लेकिन गरीब-वंचित तबकों का शिक्षा पर यह भरोसा अब डगमगाने लगा है, और यह कोई संयोग नहीं, नीतिगत भटकाव का नतीजा है।

दो दशक पहले निजीकरण के रूप में जो प्रक्रिया धीरे-धीरे शुरू हुई थी, उसे भाजपा के बारह वर्षों के शासनकाल में बड़े सोचे-समझे तरीके से तेज कर दिया गया है। इसे अब एक ऐसी रणनीति का रूप दे दिया गया है जिसका मकसद ही शिक्षा को गरीबों की पहुंच से बाहर कर देना है। वेतन में ठहराव के साथ-साथ, शिक्षा की बढ़ती लागत गरीबी की स्थिति को और भी बदतर बना रही है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में निजी पूंजी का प्रवेश 1990 के दशक के आखिर में हुआ और 2000 के दशक में तेज़ी पकड़ ली। मुख्य वजह सरकारी विश्वविद्यालयों का खराब प्रदर्शन और उनकी बिगड़ती हालत थी। माना गया था कि निजी पूंजी आने से शिक्षा की गुणवत्ता और पहुंच दोनों सुधरेंगे, लेकिन बीते तीन दशकों में यह उम्मीदें धराशायी होती गई हैं।

नामांकन के नजरिये से देखें तो भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी प्रणाली है। हमारे यहां 60,000 से ज्यादा कॉलेजों और 1,200 विश्वविद्यालयों में 4.3 करोड़ (43 मिलियन) छात्र पढ़ते हैं। यह आंकड़े उस विशाल क्षमता की बर्बादी दर्शाते हैं, जिसका उचित इस्तेमाल नहीं हो पा रहा। 'ज्ञान की महाशक्ति' बनने का सपना देखने वाला देश ऐसे स्नातक तैयार कर रहा जिन्हें नौकरियां नहीं मिल रही हैं, और ऐसे आविष्कारक तैयार कर रहा जिनके आविष्कारों को व्यावसायिक उपयोग के लिए पेटेंट नहीं मिल रहे। यह शिक्षा को ऐसा रूप दे रहा है, जहां छात्र की सोचने-समझने की शक्ति कुंद हो जाती है, और सफलता का मतलब सिर्फ 'मल्टीपल-चॉइस टेस्ट' (बहुविकल्पीय परीक्षाएं) पास करने की क्षमता मान लिया जाता है।

उच्च शिक्षा की आर्थिकी

शिक्षा के निजीकरण ने सार्वजनिक हित को निजी वस्तु में बदल कर रख दिया। निजी संस्थान कुकुरमुत्तों की तरह उग आए और सार्वजनिक संस्थान बड़े पैमाने पर संसाधनों की कमी से जूझ रहे हैं। प्रीमियम संस्थानों की फीस आसमान पर है। उदाहरण के लिए, आईआईएम-अहमदाबाद की ट्यूशन फीस 2007 में 4 लाख रुपये से बढ़कर 2021 में 27 लाख हो गई; वहीं आईआईटी बॉम्बे की फीस 2008 में 1.08 लाख रुपये से बढ़कर 2024-25 में 8 लाख हो गई। निजी क्षेत्र में, आज एक औसत विश्वविद्यालय से सामान्य बीए डिग्री हासिल करने में 3 से 6 लाख रुपये लगते हैं; जबकि बी.टेक के लिए 8 से 20 लाख रुपये। मैनेजमेंट डिग्री के लिए 5 से 30 लाख रुपये तक खर्च करने पड़ सकते हैं।

बात सिर्फ मोटी ट्यूशन फीस नहीं है। भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली का प्रवेश द्वार ही एक समानांतर और अरबों रुपये के कोचिंग उद्योग के कब्जे में है। इंजीनियरिंग और मेडिकल के लिए दो राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षाएं जेईई और नीट, स्कूली पाठ्यक्रम से इतनी अलग हो चुकी हैं कि कोचिंग के बिना इन्हें पास करना लगभग असंभव है।

जो जीएसटी संग्रह कोचिंग संस्थानों से 2019-20 में लगभग 2,200 करोड़ रुपये था, 2023-24 में बढ़कर 5,500 करोड़ रुपये से भी ज्यादा हो गया। यह ऐसा उद्योग है जो औपचारिक शिक्षा प्रणाली की विफलता से मुनाफा कमाता है; और एक ऐसा व्यावसायिक मॉडल है जिसकी नींव संस्थागत विपन्नता पर खड़ी है।

कोचिंग उद्योग का यह जाल भारत को शिक्षित नहीं कर रहा; यह स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले विषयों और प्रवेश परीक्षाओं की मांगों के बीच की खाई का दोहन कर, परेशान परिवारों से धन उगाही कर रहा है। असल में, अब उच्च शिक्षा की डिग्री हासिल करने की लागत का मतलब उन छात्रों के लिए कोचिंग फीस और ट्यूशन फीस, दोनों का जोड़ है, जो इसमें जगह बना पाते हैं। 'पढ़ जाएंगे तो बढ़ जाएंगे' वाली पुरानी कहावत पर अब भी यकीन रखने वाले गरीबों के लिए यह एक अस्तित्व से जुड़ा सवाल खड़ा करता है।

शिक्षा: एक घाटे का सौदा

डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाले यूपीए कार्यकाल में भारत में वेतन दस वर्षों में तीन से पांच गुना बढ़ा। नर्सों, इंजीनियरों, शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों, निजी क्षेत्र के कर्मचारियों, सभी की असल आय बढ़ी। ऐसे में, शिक्षा में निवेश तार्किक फैसला लगा, क्योंकि 'रिटर्न' काफी अच्छा था। शिक्षा और उसके प्रतिफल के बीच का सामाजिक समझौता तब भी कायम था।

इसके विपरीत, नरेन्द्र मोदी सरकार के लगभग एक दशक के कार्यकाल में नए स्नातकों का शुरुआती वेतन 3 से 4 लाख रुपये सालाना पर ही टिका रहा है, जबकि शिक्षा का खर्च तीन से सात गुना तक बढ़ गया। वह भी तब, जब नौकरी मिल जाए, जो ज्यादातर के नसीब में नहीं ।

अखिल भारतीय सर्वेक्षण (एआईएसएचई) 2021-22 के ताजा आंकड़ों के मुताबिक, उच्च शिक्षा में कुल दाखिले 4.33 करोड़ हैं। पिछले कुछ सालों से औसत इसी दायरे में बना हुआ है। 2023 में सिर्फ 81.2 लाख लोगों को नौकरी मिली जिनमें से 39.1 लाख लोग आईटी सेक्टर और बैंकिंग में थे।

'इंडिया स्किल्स रिपोर्ट 2025' के अनुसार, बी.टेक स्नातकों के लिए रोजगार की संभावना 60 प्रतिशत और आर्ट्स स्नातकों के लिए 45 प्रतिशत है। 20 से 24 साल की उम्र के लगभग 45 प्रतिशत स्नातक बेरोजगार हैं, और 2024 में पांच में से दो आईआईटी स्नातकों, यानी 40 प्रतिशत को नौकरी नहीं मिली।

इस बीच, कई क्षेत्रों में कंपनियों का मुनाफा पांच गुना बढ़ गया है। दौलत बन तो रही, लेकिन श्रम करने वालों तक नहीं पहुंचती। मजदूरी विकास से दूर कर दी गई, और यह जान-बूझकर हुआ। 'श्रम सुरक्षा' सुनियोजित तरीके से कमजोर की गई। महंगाई की भरपाई के लिए न्यूनतम मजदूरी नहीं बढ़ाई गई और रोजगार को 'अस्थायी' बना दिया गया। अमीर और अमीर होते जा रहे हैं, गरीब ग्रेजुएट अपनी डिग्री के साथ-साथ भारी कर्ज का बोझ भी उठाने को अभिशप्त है।

> जब गरीब और हाशिये के लोग मान लेंगे कि शिक्षा फायदेमंद निवेश नहीं रही, कि भारी-भरकम कर्ज लेकर हासिल की गई महंगी डिग्रियां भी ऐसी नौकरियां या वेतन न दिला पाएं जिनसे कर्ज चुका सकें, तो वे अपने बच्चों को विश्वविद्यालयों में भेजना बंद कर देंगे

यह बाजार की देन नहीं; एक नीतिगत परिणाम है। जब कॉरपोरेट मुनाफा पांच गुना बढ़ जाता है और वेतन में कोई वृद्धि नहीं होती, तो आर्थिक लाभों का बंटवारा वह सरकार कर रही होती है, जिसने तय किया कि वह किसके हितों को प्राथमिकता देगी और उनकी रक्षा करेगी।

मान्यता घोटाला

मोटी आर्थिकी वाले परिवार किसी भी डिग्री के लिए कैसी भी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं, बशर्ते उस ब्रांड की प्रतिष्ठा हो और उसकी स्थिति आकांक्षाएं जगाने वाली। यही मानसिकता निजी विश्वविद्यालयों की बाढ़ का कारण है। बाजार में मांग बढ़ाने के लिए आकर्षक नामों वाले विशेष पाठ्यक्रम तैयार हो रहे और फर्जी प्लेसमेंट आंकड़ों के साथ उनका जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है।

मासूम छात्र और उनके परिवार प्रायः अच्छे पाठ्यक्रम और धोखाधड़ी के बीच अंतर नहीं कर पाते। मान्यता रेटिंग और एनआईआरएफ (राष्ट्रीय संस्थान रैंकिंग ढांचा) रेटिंग भी कोई खास मददगार नहीं होतीं। मान्यता प्रणाली ध्वस्त है। ज्यादा दिन नहीं हुए जब फरवरी 2025 में, सीबीआई ने एनएएसी निरीक्षण समिति के सदस्यों को ए++ रेटिंग के बदले कैश, सोना, लैपटॉप और फोन लेने के आरोप में गिरफ्तार किया था।

घोटाले के बाद एनएएसी (राष्ट्रीय मूल्यांकन और प्रत्यायन परिषद) ने अपने 5,000 मूल्यांकनकर्ताओं में से 900 को बर्खास्त तो कर दिया, लेकिन उनके द्वारा दिए गए फर्जी ग्रेड को अमान्य नहीं किया! जाहिर है, फर्जी ए++ रेटिंग वाले दागी संस्थानों द्वारा छात्रों और उनके परिवारों की गाढ़ी कमाई खींचना जारी है।

मार्च 2025 में, मद्रास उच्च न्यायालय की मदुरै बेंच ने एनआईआरएफ रैंकिंग पर तब रोक लगा दी, जब पता चला कि नेशनल बोर्ड ऑफ एक्रेडिटेशन (एनबीए) पूरी तरह से अपुष्ट और खुद के जुटाए आंकड़ों पर निर्भर रहता है। 2024 में यह भी खुलासा हुआ था कि 50 से अधिक संस्थान फ़र्ज़ी तरीक़े से मान्यता प्रचारित कर रहे थे या जाली प्रमाणपत्रों का इस्तेमाल कर रहे थे।

*

सरकार के अपने आर्थिक सर्वेक्षण 2024-25 ने उच्च शिक्षा में नियामक पारदर्शिता की आवश्यकता स्वीकार की है, जो मौजूदा ढांचे की विफलता की स्वीकारोक्ति है।

जब गरीब और हाशिये के लोग यह मान लेंगे कि शिक्षा अब फायदेमंद निवेश नहीं रही, कि भारी-भरकम कर्ज लेकर हासिल की गई महंगी डिग्रियां भी शायद उन्हें ऐसी नौकरियां या वेतन न दिला पाएं जिनसे वे अपना कर्ज चुका सकें, तो वे अपने बच्चों को विश्वविद्यालयों में भेजना बंद कर देंगे! और ऐसा करना पूरी तरह तर्कसंगत भी होगा। उनके बच्चे मजबूरन अपने वंशानुगत और जाति-आधारित व्यवसायों की ओर लौटने को अभिशप्त होंगे, जिससे समस्त भारतीय नागरिकों के लिए सामाजिक गतिशीलता के संवैधानिक वादे का हनन होगा। ■

समावेशी होने के दिखावे की फिसलन भरी चाल

मुस्लिम प्रतिनिधित्व के मामले में भाजपा कहती कुछ और करती कुछ और है

आकार पटेल

फोटो: गेटी इमेजेज

नरेन्द्र मोदी के शासन काल में कोई मुस्लिम चेहरा प्रमुख नहीं है

इस महीने छपी एक खबर की हेडलाइन थीः 'भाजपा की बंगाल लिस्ट में किसी भी मुस्लिम नाम को जगह नहीं मिली'। इस खबर में पाठकों को आंकड़े भी दिए गए थे—यानी, कितने टिकट बांटे गए आदि, लेकिन इस हेडलाइन के अलावा इस खबर में और कुछ जोड़ने की गुंजाइश नहीं है। हममें से ज्यादातर लोगों के लिए यह कोई हैरानी की बात भी नहीं है, क्योंकि 2014 से अब तक के आंकड़ों ने हमें यह सिखा दिया है कि भाजपा असल में क्या चाहती है।

पिछली तीन लोकसभाओं में, भारतीय जनता पार्टी ने 282, 303 और 240 सीटें जीती। इनमें कोई भी मुस्लिम नहीं था। राज्यसभा में भी उसके 100 से ज्यादा सांसद हैं। वहां भी कोई मुस्लिम नहीं है। लगभग एक दशक पहले, यह रिपोर्ट आई थी कि पूरे भारत में उसके एक हजार से ज्यादा विधायक थे, जिनमें से केवल एक मुस्लिम था। केन्द्रीय मंत्रिमंडल में कोई भी मुस्लिम मंत्री नहीं है। यह ऐसी बात है जो हम 1947 के बाद पहली बार देख रहे हैं। फिर भी, इससे हमें कोई हैरानी नहीं होती, क्योंकि अगर भाजपा की किसी एक बात की तारीफ की जा सकती है, तो वह है उसकी ईमानदारी। यह पार्टी, खासकर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाले अपने मौजूदा स्वरूप में, इस बात को लेकर पूरी तरह स्पष्ट है कि वह भारत के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय को पूरी तरह से बाहर रखना चाहती है, जिसके प्रति उसके मन में ऐतिहासिक रूप से गहरा द्वेष है।

हमें इस रुख और रवैये के कारणों पर जाने की जरूरत नहीं है, बस यह मान लेना चाहिए कि पार्टी और उसके कई समर्थक इस बारे में ऐसा ही महसूस करते हैं। सोचने वाली बात कुछ और है। भाजपा और खासकर प्रधानमंत्री की इस बहिष्करण (एक्सक्लूजन) को आगे बढ़ाने के बारे में सोच इतनी स्पष्ट है, फिर भी हम 'सबका साथ, सबका विश्वास' और '140 करोड़ भारतीय' जैसी बातें क्यों सुनते हैं? पार्टी और नेता ईमानदार हो सकते थे और ऐसे नारे बना सकते थे जो उनके व्यवहार की तरह ही बहिष्करण वाले हों, लेकिन वे ऐसा नहीं करते। क्यों?

इसका जवाब देने के दो तरीके हैं, और पहला तरीका कम पेचीदा है। ये नारे उन लोगों को तसल्ली देने के लिए गढ़े और दोहराए जाते हैं, जो ऐसी बातों को लेकर चिंतित रहते हैं। इन नारों का कोई खास मतलब नहीं होता, क्योंकि बहिष्कार की असलियत हमारे सामने ही है, ठीक उसी रूप में, जिस तरह इसे अमल में लाया जाता है।

यह जवाब खास तौर पर संतोषजनक नहीं है, क्योंकि यह इस बात पर रोशनी नहीं डालता कि भाजपा को ऐसा करने की जरूरत ही क्यों है। खासकर तब, जब उसके कामकाज में इतनी पारदर्शिता है। यह इस तथ्य को भी नजरअंदाज करता है कि मुसलमानों के बहिष्कार और उत्पीड़न के मामले में पूरी तरह से मुखर और बेबाक होने के अपने ही कृत्यों से, प्रधानमंत्री ने ऐसे कई लोगों का दिल जीत लिया है, जो इसी तरह के व्यवहार और इसी तरह के समाज की चाह रखते हैं।

> यह भाजपा है जो 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसी बातें करती है। जब अपनी चीजों का प्रचार करने की बात आती है, तो यह भारतीय ज्ञान-परंपरा का सहारा लेती है, जबकि असल में यह कुछ और ही बेच रही होती है

पार्टी और प्रधानमंत्री के पाखंड करने पर मजबूर होने का असली कारण यह है कि पूरी तरह से बहिष्कार करने की उनकी चाहत भारतीय समाज और भारतीय संस्कृति के साथ मेल नहीं खाती। अपने घोषणापत्र में 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसी बातें कौन कहता है? यह न तो विपक्ष है और न ही बुद्धिजीवी वर्ग; यह भाजपा है। जब अपनी चीजों का प्रचार करने की बात आती है, तो यह भारतीय ज्ञान-परंपरा का सहारा लेती है, जबकि असल में यह कुछ और ही बेच रही होती है।

भाजपा की असली पेशकश के लिए वोटरों का एक वर्ग बेशक मौजूद है, लेकिन यह भाजपा के कुल वोटरों की संख्या से छोटा है। इसी वजह से 'विकास' पार्टी के एजेंडे का इतना बड़ा हिस्सा रहा है—या कम-से-कम पहले तो था ही। औपचारिक बयानों में, और खासकर जब दुनिया के सामने बात रखने की बारी आती है, तो अपने तीखे तेवर छिपाकर रखने पड़ते हैं। हमारे बेचारे राजनयिकों को इसी दुविधा से जूझना पड़ता हैः अपने देश में तो वे सख्ती से पेश आते हैं, लेकिन विदेश में उदार होने का दिखावा करते हैं।

अमेरिका की अपनी एक यात्रा के दौरान, विदेश मंत्री जयशंकर ने डॉनल्ड ट्रम्प के पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार, जनरल एच.आर. मैकमास्टर के साथ एक इंटरव्यू किया। जनरल, जो भारत से भली-भांति परिचित हैं और यहां का दौरा भी कर चुके हैं, उन्होंने जयशंकर से यह सवाल पूछाः 'मैं आपसे यह जानना चाहता था कि आप अपने ही देश में हो रहे राजनीतिक घटनाक्रमों को किस नजर से देखते हैं। आप कोई पक्षपाती व्यक्ति नहीं हैं। आपने कई अलग-अलग प्रशासनों के तहत अत्यंत विशिष्टता के साथ अपनी सेवाएं दी हैं।'

"महामारी के बीच, हिन्दुत्व से जुड़ी कुछ ऐसी नीतियों को लेकर चिंता जताई जा रही है, जो भारतीय लोकतंत्र के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को कमजोर कर सकती हैं... और क्या भारत के दोस्तों की इन हालिया रुझानों को लेकर चिंता जायज है?" जयशंकर ने इस सवाल का सीधा जवाब देने से परहेज किया, और इसके बजाय उन्होंने यह बताना शुरू कर दिया कि राशन का वितरण और नकद राशि का हस्तांतरण किस तरह किया गया। उन्होंने हिन्दुत्व नीतियों से जुड़ी उस विशिष्ट समस्या पर कोई बात नहीं की, जिसके बारे में मैकमास्टर ने पूछा था।

ये क्या हैं? ये भारत द्वारा नागरिकता में धर्म को शामिल करना है। ये ऐसे नए कानून हैं जो मुस्लिम विवाह और मुस्लिम तलाक को अपराध बनाते हैं; या ऐसे नए कानून हैं जो बीफ रखने को अपराध बनाते हैं; गुजरात में कानून के जरिये मुसलमानों को जबरदस्ती एक ही जगह (घेरे में) सीमित करना; भारत के सिर्फ एक हिस्से कश्मीर में भीड़ पर शॉटगन का इस्तेमाल; और सरकार द्वारा मुसलमानों को खलनायक के तौर पर पेश करना, जिसमें कोविड फैलाने का आरोप भी शामिल है।

ये वही बातें थीं जिनके बारे में भारत के दोस्त चिंतित थे। जयशंकर ने मैकमास्टर को जवाब देते समय एक बार भी 'हिन्दुत्व' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया, और न ही उन कानूनों का जिक्र किया जिनके लिए दुनिया भर में भारत की आलोचना हो रही थी। जाहिर है, इस बहस से उनके पीछे हटने की वजह यही थी कि उनके पास इसका कोई बचाव नहीं था। इस आरोप का जवाब देने का एकमात्र तरीका बात को घुमाना और मुद्दे से बचना ही था। और यह आरोप बिल्कुल सही था कि भारत हिन्दुत्व के जरिये खुद को और अपने ही लोगों को नुकसान पहुंचा रहा है।

इससे उन लोगों को कुछ उम्मीद मिलनी चाहिए, भले ही वह बहुत थोड़ी ही क्यों न हो, जो हमारे समाज को लेकर, और इस बात को लेकर कि वह आज किस मुकाम पर आ पहुंचा है और किस दिशा में आगे बढ़ रहा है, सही ही चिंतित रहते हैं। अगर वे लोग भी, जो भारतीयों को धर्म के आधार पर सफलतापूर्वक बांट देते हैं, चुनौती मिलने पर अपने विश्वासों पर डटे रहने में असहज महसूस करते हैं, तो इससे यह जाहिर होता है कि अंततः हम यही नहीं चाहते और असल में हम ऐसे हैं भी नहीं। ■

अपनी ही बेमानी के तमाशे की मेजबानी

ब्रिक्स में भारत की स्थिति आज जितनी बेमेल है, पहले कभी नहीं रही। भारत ऐसे आयोजन की अध्यक्षता की तैयारी कर रहा जिसमें वह खुद ही अलग-थलग है

अशोक स्वैन

इस साल 'ब्रिक्स' की कमान भारत के हाथों में है। लेकिन इस समूह में भारत की स्थिति आज जितनी बेमेल है, उतनी पहले कभी नहीं रही। कभी ब्रिक्स को पश्चिमी-प्रभुत्व वाले गठबंधनों और अमेरिका के नेतृत्व वाली अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के मुकाबले एक संतुलनकारी शक्ति के तौर पर देखा जाता था। जैसे-जैसे नई दिल्ली इस साल सितंबर में 18वें ब्रिक्स शिखर सम्मेलन की मेजबानी की तैयारी कर रही है, भारत खुद को एक ऐसे विभाजित समूह की अध्यक्षता करते हुए पा रहा है, जिसके भीतर वह खुद ही लगातार अलग-थलग पड़ता जा रहा है।

ब्रिक्स समूह पहले ही आपसी विरोधाभासों से घिरा हुआ था, लेकिन ईरान में चल रहे युद्ध ने इसे पूरी तरह दो-फाड़ कर दिया है। कभी इसे समन्वित राजनीतिक प्रभाव दिखाने के एक मंच के तौर पर पेश किया जाता था, जो बहुध्रुवीयता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के लिए जाना जाता था। लेकिन अब यह अपने ही किसी सदस्य से जुड़े एक बड़े भू-राजनीतिक संकट पर एक संयुक्त बयान जारी करने में भी असमर्थ नजर आता है।

23-24 अप्रैल को नई दिल्ली में मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका के उप विदेश मंत्रियों और विशेष दूतों की ब्रिक्स बैठक बिना किसी सहमति के संपन्न हुई, जिस कारण नई दिल्ली को एक सामूहिक घोषणा जारी करने के बजाय 'अध्यक्ष का सारांश' जारी करना पड़ा। यह अंतर केवल प्रक्रियागत नहीं है, बल्कि राजनीतिक है-जब आम सहमति नहीं होता है, तभी तभी 'अध्यक्ष का सारांश' जारी किया जाता है।

इस समूह के भीतर की फूट ढांचागत है। ईरान, जो अब ब्रिक्स का सदस्य है, को सैन्य टकराव की स्थिति में गुट से एकजुटता की उम्मीद थी। फिर भी, अन्य सदस्यों- खास तौर पर यूएई जो अब ओपेक (पेट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन) से अलग हो चुका है- ने अमेरिका और इसराइल के खिलाफ कड़े शब्दों के इस्तेमाल का विरोध किया। चीन और रूस का झुकाव तेहरान की ओर रहा। भारत ने चिंता जताने के लिए अस्पष्ट शब्दों का इस्तेमाल करते हुए टालमटोल वाला रवैया अपनाया।

इस गतिरोध के कारण ब्रिक्स कोई ठोस रुख नहीं अपना सका, यहां तक कि तब भी जब किसी सदस्य देश पर हमला हुआ हो या उसके नेताओं की हत्या कर दी गई हो। बयान का मसौदा पारित नहीं हो पाया और बातचीत भी रुक गई। इस गतिरोध में भारत की भूमिका बहुत कुछ कह जाती है। अध्यक्ष के तौर पर, उससे उम्मीद की जा रही थी कि वह कोई दिशा देगा, लेकिन इसके बजाय उसने अस्पष्टता का रास्ता चुना। कोई ठोस रुख अपनाने में भारत की हिचकिचाहट मोदी सरकार की विदेश नीति में मौजूद विरोधाभासों को उजागर करती है। जिसे विदेश मंत्री एस. जयशंकर 'रणनीतिक स्वायत्तता' बताते हैं, उसी पर चलते हुए भारत ने अमेरिका और इसराइल के साथ व्यापार, रक्षा और रणनीतिक साझेदारियां विकसित की हैं; खाड़ी देशों के साथ आर्थिक और ऊर्जा संबंध बनाए हैं; और ईरान के साथ सांस्कृतिक व कूटनीतिक सहयोग स्थापित किया है। युद्ध के कारण जब किसी एक पक्ष को चुनने की स्थिति आ गई, तो भारत ने किसी को भी नाराज करने से बचने के लिए बीच का रास्ता अपनाने की कोशिश की है।

फोटो: गेटी इमेजेज

नई दिल्ली में ब्रिक्स उप विदेश मंत्रियों और मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका के लिए विशेष दूतों के साथ भारत के विदेश मंत्रालय की सचिव (दक्षिण) डॉ. नीना मल्होत्रा

लेकिन ब्रिक्स पर यह अस्पष्टता भारी पड़ सकती है, क्योंकि समूह के भीतर एक ऐसा समूह है जो अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ खुलकर स्टैंड लेकर खुद को अभिव्यक्त करता है। ब्रिक्स के कट्टर विरोधी अमेरिका और ब्रिक्स के ही एक सदस्य के बीच चल रहे किसी विवाद पर भारत का कोई पक्ष न लेना, समझदारी नहीं, बल्कि प्रतिबद्धता की कमी माना जाएगा। ईरान ने खुले तौर पर उम्मीद जताई है कि ब्रिक्स के अध्यक्ष के तौर पर भारत इस समूह को उसके पक्ष में लामबंद करेगा; लेकिन नई दिल्ली के हित अमेरिका-इसराइल गठबंधन से इतने गहरे जुड़े हैं कि वह ऐसा कोई जोखिम भरा रुख नहीं अपना सकता।

इसके साथ ही, इस समूह के भीतर चीन का प्रभाव लगातार बढ़ रहा है। ब्रिक्स का विस्तार, जिसे अक्सर इसकी बढ़ती वैश्विक लोकप्रियता के संकेत के तौर पर पेश किया जाता है, ने असल में बीजिंग की केंद्रीय भूमिका को और मजबूत किया है। इसके कई नए सदस्य भारत के मुकाबले चीन के साथ ज्यादा करीबी रणनीतिक तालमेल रखते हैं। ब्रिक्स के भीतर का संतुलन निर्णायक रूप से बदल गया है। भारत अब इस समूह का कोई बराबर का स्तंभ नहीं रह गया है। यह अब एक ऐसी संरचना में एक 'गैर-जरूरी' खिलाड़ी बनकर रह गया है, जिसे चीन लगातार अपने हिसाब से ढाल रहा है।

> ब्रिक्स के भीतर का संतुलन निर्णायक रूप से बदल गया है। भारत अब इस समूह का कोई बराबर का स्तंभ नहीं रह गया है। यह अब एक ऐसी संरचना में 'गैर-जरूरी' खिलाड़ी बनकर रह गया है, जिसे चीन लगातार अपने हिसाब से ढाल रहा है

इस बदलाव ने भारत की स्थिति को और भी असहज बना दिया है। चीन के साथ उसके तनावपूर्ण द्विपक्षीय संबंध- जिनकी पहचान अनसुलझे सीमा विवादों और रणनीतिक प्रतिद्वंद्विता से होती है- ब्रिक्स के भीतर सार्थक सहयोग की संभावनाओं को सीमित कर देते हैं। भारत की स्थिति तब और भी जटिल हो जाती है, जब ट्रंप उन देशों पर दंडात्मक शुल्क लगाने की चेतावनी देते हैं जो ब्रिक्स के तहत वैकल्पिक व्यापार व्यवस्थाएं अपना रहे हैं। ट्रंप प्रशासन को लेकर सतर्क मोदी सरकार ऐसा कोई भी रुख अपनाने का जोखिम नहीं उठाएगी, जिससे विभिन्न स्तरों पर ऐसी जवाबी कार्रवाई का सामना करना पड़े, जिसे सहन करना मुश्किल हो जाए।

नतीजतन, नई दिल्ली उन कदमों का समर्थन करने में हिचकिचाती रही है, जिन्हें अमेरिका के दबदबे वाली वैश्विक आर्थिक व्यवस्था के लिए चुनौती के तौर पर देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'डी-डॉलराइजेशन' (डॉलर पर निर्भरता कम करने) को ही ले लीजिए। इसका नतीजा यह हुआ है कि ब्रिक्स के भीतर भारत के लिए रणनीतिक गुंजाइश कम हो गई है। वह आर्थिक और कूटनीतिक नतीजों का जोखिम उठाए बिना, इस गुट के ज्यादा मुखर एजेंडे के साथ पूरी तरह तालमेल नहीं बैठा सकता। फिर भी, पीछे हटने से इस समूह के भीतर उसकी अपनी साख कमजोर होती है।

ब्रिक्स के अंदरूनी विरोधाभास पहले कभी इतने साफ नहीं रहे। पहली बार, यह समूह ऐसी स्थिति का सामना कर रहा है जहां इसके सदस्य अपने ही किसी सदस्य से जुड़े एक सैन्य संघर्ष को लेकर बंटे हुए हैं। आम सहमति बनाने में असमर्थता गहरे मतभेदों को दिखाती है।

भारत की अध्यक्षता ऐसे समय में हो रही है और उसकी खुद की अस्पष्टता ने उसे समूह के विरोधाभासों को संभालने में पूरी तरह से बेअसर बना दिया है। अगर कुछ हुआ है तो बस इतना कि इस संकट ने भारत के प्रभाव की सीमाओं को उधेड़कर रख दिया है। शिखर सम्मेलन के नतीजों को नजरअंदाज करना मुश्किल है। उम्मीदें कम हैं। चीन के राष्ट्रपति के इसमें शामिल होने की संभावना कम है। मतभेद अभी सुलझे नहीं हैं और कोई साझा रणनीतिक दिशा भी नहीं है, ऐसे में इस शिखर सम्मेलन से किसी भी महत्वपूर्ण नतीजे की उम्मीद बेमानी ही है। ज्यादा से ज्यादा, इससे कुछ ऐसे बयान सामने आएंगे जिनके शब्द बड़ी सावधानी से चुने गए होंगे और जो विवादित मुद्दों से बचते नजर आएंगे। और बदले में, इससे यह धारणा और मजबूत होगी कि 'ग्लोबल साउथ' (विकासशील देशों के समूह) का नेतृत्व करने का भारत के पास न तो कोई अधिकार है और न ही आधार।

यह समय भारत की विदेश नीति को लेकर भी बड़े सवाल खड़े करता है। अलग-अलग और एक-दूसरे के विपरीत भू-राजनीतिक गुटों के बीच संतुलन बनाने की इसकी कोशिश को बनाए रखना मुश्किल है। ब्रिक्स के भीतर, यह रणनीति पहले से ही नाकाम साबित हो रही है। भारत जितना ज्यादा सावधानी बरतता है, चीन उतना ही ज्यादा जगह घेर लेता है। भारत वैश्विक मुद्दों पर अपना पक्ष रखने से जितना ज्यादा बचता है, उसका प्रभाव उतना ही कम होता जाता है।

एक वैकल्पिक वैश्विक व्यवस्था के केंद्र के तौर पर ब्रिक्स की विश्वसनीयता पहले से ही कम हो रही थी। भारत की अध्यक्षता में, यह गिरावट अब और भी साफ दिखने लगी है। यह समूह लगातार बढ़ रहा है, नए सदस्य जोड़ रहा है और बैठकें कर रहा है, लेकिन सार्थक सामूहिक कार्रवाई करने की इसकी क्षमता कम होती जा रही है।

इस समूह के भीतर भारत के लिए एक स्पष्ट भूमिका तय करने में मोदी सरकार की नाकामी का मतलब है कि भारत ब्रिक्स की अध्यक्षता तो कर रहा है, लेकिन उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। वह मेजबानी तो करेगा, लेकिन किसी भी तरह से इसके नतीजों को प्रभावित नहीं कर पाएगा। नई दिल्ली में सितंबर में होने वाला शिखर सम्मेलन इसकी अप्रासंगिकता को और भी ज्यादा उजागर कर देगा। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

परमाणु बम गिराने वाले समझाएंगे सभ्यता?

पश्चिम एशिया को लेकर सभ्यता से जुड़े उपदेश देने वाले पश्चिमी देश अब निहायत ही खोखले दिखने लगे हैं

अभय शुक्ला

सभ्यताएं कवियों, लेखकों, चित्रकारों और वास्तुकारों द्वारा रची जाती हैं, और राजनेताओं तथा उनकी सेनाओं द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं। हमें इस सत्य को ऐसे समय में याद रखना चाहिए, जब हमारे पड़ोस यानी पश्चिम एशिया में अस्तित्व का सभ्यतागत युद्ध चल रहा है।

इसमें संदेह नहीं होना चाहिए कि गाजा, लेबनान, सीरिया और ईरान पर किए जा रहे अवैध हमले केवल 'ग्रेटर इजराइल', तेल या यूरेनियम संवर्धन तक ही सीमित नहीं हैं; बल्कि ये तो गैर-ईसाई और गैर-कोकेशियाई दुनिया के विरुद्ध छेड़े गए एक नए 'धर्मयुद्ध' का महज आवरण हैं। यह अमेरिका और इसराइल द्वारा थोपा गया एक नया धार्मिक-औपनिवेशिक साम्राज्यवाद है, जिसे यूरोप के अधिकतर देशों का मौन और सांकेतिक समर्थन प्राप्त है। ऐसा लगता है कि इन देशों में बड़ी संख्या में रहने वाले ईसाइयों ने भी अब 'जायोनीवाद' की भावना को अपना लिया है।

इस दुस्साहस को जज्ब करना मुश्किल है। यहां दो देश हैं- एक जिसे अस्तित्व में आए अभी मुश्किल से 75 साल हुए हैं, और दूसरा जिसके सांस्कृतिक आधार हैमबर्गर और केंटकी फ्राइड चिकन हैं- और ये दोनों मिलकर हजारों साल पुरानी सभ्यताओं को तबाह करने का दुस्साहस कर रहे हैं। जैसा कि ईरान के विदेश मंत्री ने डॉनल्ड ट्रंप को याद दिलायाः जब यूरोपीय और अमेरिकी गुफाओं में रह रहे थे, तब फारसी लोग 'साइरस सिलेंडर' के मानवाधिकारों के नियम लिख रहे थे।

आज के खून के प्यासे जायोनी शायद इस बात से भी अनजान हैं कि 9वीं सदी ईस्वी में बीजगणित का आविष्कार एक फारसी गणितज्ञ ने किया था; और यहूदी आज इसलिए अस्तित्व में हैं, क्योंकि जक्सींज (6वीं सदी ईसा पूर्व) और साइरस (5वीं सदी ईसा पूर्व) जैसे फारसी राजाओं ने यह आदेश दिया था कि यहूदियों को शांति से रहने दिया जाए और उन्हें किसी भी तरह से कोई नुकसान न पहुंचाया जाए। आज के यहूदियों का इन फारसी लोगों के वंशजों का नरसंहार करने की कोशिश करना सच्ची सभ्यताओं और बर्बर लोगों के बारे में वह सब कुछ कह देता है, जिसे कहने की जरूरत है।

सभ्यतागत वर्चस्व स्थापित करने के प्रयासों के प्रमाण दिन-ब-दिन बढ़ते जा रहे हैं। इस नीति की आधिकारिक घोषणा उस क्यूबाई आप्रवासी द्वारा की गई, जो पगलाए सांप करी तरह अपनी ही पूंछ को निगलने की कोशिश कर रहा है। मैं अमेरिका के विदेश मंत्री मार्को रूबियो की बात कर रहा हूं। इस साल फरवरी में म्यूनिख सुरक्षा सम्मेलन में उन्होंने बिना किसी संकोच के ट्रंप के नए 'मागा कार्टा' को सबके सामने रखा और तमाम यूरोपीय नेताओं ने तालियों से उनका जोरदार स्वागत किया।

रूबियो ने याद दिलाया जब यूरोप के 'मिशनरी, तीर्थयात्री, सैनिक और खोजकर्ता नए महाद्वीपों में बसने के लिए उसके तटों से निकले थे'। उन्होंने 'पश्चिमी वर्चस्व के एक नए युग' का आह्वान किया, ताकि 1945 के बाद से पश्चिम के पतन को पलटा जा सके; इस तरह उन्होंने असल में नव-उपनिवेशवाद के एक नए दौर की शुरुआत की घोषणा कर दी। उन्होंने कहा कि अमेरिका इस समस्या को 'ठीक' कर रहा है, और ऐसा करते समय उसे मौजूदा अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के मूल तत्वों को नकारने में कोई हिचक नहीं होगी।

यह बात इस तथ्य से पूरी तरह साबित हो जाती है कि अमेरिका ने अपनी दादागिरी बनाए रखने के लिए 80 देशों में 750 से 800 सैन्य अड्डे बना रखे हैं; और पिछले 80 सालों के दौरान उसने 41 देशों पर बमबारी की है और इनमें सर्बिया को छोड़कर बाकी सभी देश या तो एशिया में हैं या अफ्रीका में। अंदाजा है कि इन हमलों और उनके साथ लगाए गए प्रतिबंधों की वजह से कम-से-कम 3 करोड़ 20 लाख लोगों की जान गई है।

गाजा, लेबनान और ईरान तो इस नए तरह के उपनिवेशवाद की कोशिश के बस ताजा उदाहरण हैं। ट्रंप ने तो खुलेआम यह शेखी भी बघारी है कि उसने वेनेज़ुएला का तेल हथिया लिया है, और अब वह ईरान के तेल भंडार और होर्मुज से होने वाली कमाई में भी हिस्सा चाहता है।

उन्होंने दुनिया की सबसे पुरानी सभ्यताओं में से एक के नेताओं की हत्या करके और उन्हें 'पाषाण युग के बदजात' कहकर उस सभ्यता के प्रति घोर नस्लीय तिरस्कार दिखाया है। इसराइल के रक्षा मंत्री ने फिलिस्तीनियों को 'जानवरों से भी बदतर' बताया और उनके समूल विनाश का आह्वान किया है।

इसराइल और अमेरिका द्वारा पश्चिम एशिया में किए जा रहे नरसंहार को स्पेन और आयरलैंड जैसे चंद देशों को छोड़कर पश्चिमी यूरोप और जी-7 देशों का पूरा समर्थन मिला है, भले ही यह समर्थन पूरी मुखरता के साथ नहीं दिया गया हो। इसराइल के साथ उनका व्यापार लगातार जारी है और यह सालाना 50 अरब अमेरिकी डॉलर के आसपास है; उन्होंने ईरान और वेनेज़ुएला पर प्रतिबंध लगाए हैं, लेकिन इसराइल पर प्रतिबंध लगाने के बारे में सोच भी नहीं सकते; वे इस दुष्ट आतंकवादी देश को लगातार हथियारों से लैस करते जा रहे हैं; उन्होंने होर्मुज जलडमरूमध्य को खोलने के लिए 12 यूरोपीय देशों का एक गठबंधन बनाया है, लेकिन गजा या दक्षिणी लेबनान की रक्षा के लिए वे ऐसा बिल्कुल नहीं करेंगे।

खान यूनिस, गाजा, फिलिस्तीन में इसराइली हमलों से हुए भारी नुकसान के बीच टैंकरों से पानी भरते लोग

> ईरान ने दक्षिणी देशों को 'बर्बर' और 'आतंकवादी' बताने वाले पश्चिमी नैरेटिव को पलट दिया है और उसे उल्टा साबित कर दिया है। अब दुनिया में यह धारणा बन रही है कि इसराइल और अमेरिका ही सबसे बड़े आतंकवादी देश हैं

इससे भी बुरी बात यह है कि वे अपने ही नागरिकों को इसराइल के खिलाफ प्रदर्शन करने की इजाजत नहीं दे रहेः यूके ने हजारों प्रदर्शनकारियों को गिरफ्तार किया है और फ्रांस ने अभी-अभी कानून लागू किया है, जो इसराइल-विरोधी सार्वजनिक प्रदर्शन को अपराध घोषित करता है और इसके लिए पांच साल की जेल की सजा का प्रावधान करता है। पश्चिम का 'सभ्यताओं का यह युद्ध' पूरी शिद्दत से लड़ा जा रहा है।

यही वह संदर्भ है जिसमें हमें ईरान द्वारा अपनी संप्रभुता और अपने लोगों के लिए किए जा रहे दृढ़ बचाव को देखना चाहिए। ईरान 'ग्लोबल साउथ' को उपनिवेशवाद से मुक्त कराने के लिए लड़ रहा है। इसने दक्षिणी देशों को 'बर्बर' और 'आतंकवादी' बताने वाले पश्चिमी नैरेटिव को पूरी तरह पलट दिया है और उसे उल्टा साबित कर दिया हैः अब दुनिया भर में यह धारणा बन रही है कि इसराइल और अमेरिका ही सबसे बड़े आतंकवादी देश हैं; कि शांति और विश्व व्यवस्था को सबसे बड़ा खतरा उन्हीं से है; कि उनके नेता घोषित तौर पर युद्ध अपराधी हैं। सही मायने में ये 'बर्बर' हैं और ये लोग युद्ध हार चुके हैं, लेकिन ऐसे सिरफिरे हैं कि इसे मानने को तैयार नहीं। ■

अभय शुक्ला रिटायर्ड आईएएस अधिकारी हैं। यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है

लोमड़ियों से धर्म की शिक्षा लेने का नतीजा

इस शिक्षा के चलते नफरत धर्म बन गई है, मुर्गियां चुराना पुण्य का काम और परपीड़ा सुख का वायस

कृष्ण प्रताप सिंह

अयोध्या के उस हिस्से में, जो पहले फैजाबाद हुआ करता था, 'बेदार' नाम के एक बुजुर्ग शायर रहते हैं। बताते हैं कि जिन 'दोउन' के बारे में संत कबीर 'राह न पाई' वाली बात कह गए हैं, बेजार उनके बीच जाते हैं तो 'मुसलमानों में हिन्दू' और 'हिन्दुओं में मुसलमान' हो जाते हैं। फिर भी चिढ़ते नहीं हैं, 'खर' (यानी खरी) बात कहने का पुरस्कार मानते हैं उसे।

एक बार उनकी खरी-खरी से खौंखियाए कुछ विघ्नसंतोषी सज्जन अनायास उनसे आ भिड़े और बरबस पूछने लगे कि 'तुम हिन्दू नहीं हो क्या?', तो उन्होंने पहले तो उन्हें यह कहते हुए डपट दिया कि 'तुमसे मतलब?' फिर 'हूं, मगर तुम जैसा नहीं'' कहते हुए अपना रचा एक शे'र सुना दिया : मैं भी हिन्दू हूं मगर हरदम ये रखता हूं खयाल, मेरी करतूतों से मेरा धर्म शर्मिंदा न हो!

अभी कुछ रोज पहले शहर के नुक्कड़ पर मुझसे मिले। मैंने सौजन्यवश उनका हालचाल पूछ लिया तो रहस्यमय ढंग से मुस्कुराते हुए कहने लगे कि 'क्या बताऊं, आजकल लोमड़ियां बहुत सताने लगी हैं। न वक्त देखती हैं, न बेवक्त। बस, पिल पड़ती हैं।'

मैंने अचकचा कर पूछा - क्या मतलब? वह झुंझला उठे। बोले, तुम दूध पीते बच्चे हो क्या? नहीं तो इतना भी क्यों नहीं समझते? यह देखकर भी नहीं कि आजकल कुछ लोग लोमड़ियों से ही धर्म की शिक्षा लेने लगे हैं, जिसके चलते नफरत धर्म बन गई है, मुर्गियां चुराना पुण्य का काम और परपीड़ा सुख का वायस!

उनकी इस बात से असहमति की मुझे कोई गुंजाइश नहीं दिखी। अचानक याद आया कि तुर्की में लोमड़ियों से धर्म की शिक्षा लेने के अंजाम को लेकर एक कहावत भी है। मैं उनका मुंह देखता और महसूस करता रहा कि शायद उनको अब हमारा देश भी उसी अंजाम को प्राप्त होता दिखने लगा है।

दिखे भी क्यों नहीं, अनेक नफरती चिंटुओं को किसी भी तरह के हड़बोंग से नफरत जो नहीं रह गई है। कोई लाख समझाए, वे यह समझ ही नहीं पाते कि उनके हड़बोंगों की पहली चोट देश के लोकतंत्र, संविधान और उनकी संस्थाओं पर पड़ती है। उन्हें तो 'अपने' नेताओं द्वारा भड़काई गई आग की लपटें भी अब 'सुनहरी' दिखाई देती हैं! देख-समझ पाते तो वे खुद धर्माधीशों के साथ अपनी भूमिका का घालमेल कर रहे सत्ताधीशों के खिलाफ उठ खड़े हुए होते!

यहां बात जान लेनी चाहिए कि विवेक की ऐसी छिनैतियां सफल होने लग जाती हैं, तो कोई भी धर्म धर्म नहीं रह पाता। लोमड़ियों की धार्मिक शिक्षा से पैदा हुए धर्मभीरुओं और धर्मपशुओं के शिकंजे में कसता चला जाता है।

जानकारों के अनुसार, जिस भी समाज में धर्मभीरुता बढ़ जाती है, उसमें धर्म के उदात्त मूल्यों की हिफाजत संभव नहीं हो पाती। पहले वह बर्बरता, बीमारी एवं असामाजिकता के सन्निपातों और अनेक असली-नकली असुरक्षाओं से पीड़ित होने लग जाता है। अंततः ये असुरक्षाएं उसे ऐसी जगह ले जा पटकती हैं, जहां बुजदिली का शिकार होकर वह किसी भी तरह के सत्साहस से महरूम हो जाता है। दूसरी ओर, उसे सता रहे तरह-तरह के फोबिया उसके 'दुश्मनों' की संख्याएं और अनिष्ट की आशंकाएं बढ़ाते रहते हैं।

अनंतर, डर के मनोविज्ञान से उपजा नपुसंक किस्म का गुस्सा इस समाज को उन अंधधारणाओं का गुलाम बना देता है, जिनके तहत कल्पित दुश्मनों के खिलाफ किसी भी तरह की क्रूरता या कदाचार उसे उसका 'सबसे जरूरी कर्तव्य' लगने लगते हैं- अधिकार भी।

न सिर्फ हमारे बल्कि दुनिया के अन्य कई देशों का इतिहास भी ऐसे समाजों की असामाजिक कारस्तानियों और उनके पीड़ितों की कराहों से भरा पड़ा है। ऐसी कराहें कई बार पीढ़ियों तक चलती रहती हैं क्योंकि धर्मभीरुता एक बार मौका पा जाती है तो देश या समाज को लगातार ऐसी हालत में पहुंचाती रहती है, जिसमें घृणा, हिंसा या उनके अनर्थों से किसी को कतई कोई फर्क नहीं पड़ता। हां, इसके पीछे 'मूंदहु आंखि कतहुं कछु नाहीं' वाली प्रवृत्ति ही नहीं, जल में रहकर मगर से बैर न कर पाने की वह बेचारगी भी होती है, जिससे निजात पाना वश में नहीं रह जाता।

गौर कीजिए : तभी तो देश की प्रायः सारी लोकतांत्रिक संस्थाएं इन दिनों धर्मभीरु हो चले हमारे समाज को उसकी बेचारगी से निजात दिलाने के दृढ़संकल्प का जैसा अभाव प्रदर्शित कर रही हैं, उससे उसके प्रतिरोधी बड़े हिस्से का यह विश्वास जाता रहा है कि सत्तासंरक्षित नफरती और हिंसक तत्वों की कारस्तानियों के खिलाफ सिर उठाकर भी वह महफूज रह सकता है। किसी उदार दृष्टि और चेतना से संपन्न समाजसुधार आंदोलन का अभाव इस स्थिति में कोढ़ में खाज पैदा कर रहा है। फलस्वरूप इस प्रतिरोधी हिस्से की आत्मविश्वासहीनता उसको गहरे असुरक्षाबोध से कतई बाहर नहीं निकलने दे रही।

फोटो: गेटी इमेजेज

इसे सत्ता का डर कहें या धर्मभीरुता, नफरती हालात ऐसे हो गए हैं कि सब कुछ देखकर भी कोई कुछ बोलने की हिम्मत नहीं कर पाता

ऐसे में हालत यह हो गई है कि वह सब कुछ देखकर कुछ भी नहीं देखता और उसके खिलाफ कुछ नहीं बोलता। नफरत और हिंसा के पैरोकारों एवं सूत्रधारों के साथ बने या दिखते रहने में सामाजिक सुरक्षा का अनुभव करता तथा 'खुश' रहता है।

लोकसभा में विपक्ष के नेता राहुल गांधी ठीक ही कहते हैं कि धर्म के नाम पर भय का कारोबार करने वाले सत्तासीन और सत्ता संरक्षित महानुभाव केवल अपने दुश्मनों को ही नहीं डराते, अपनों को, अपने दोस्तों एवं समर्थकों को भी डराए रखते हैं, ताकि वे उनके विरुद्ध जाने या उनका साथ छोड़ने की 'हिमाकत' न कर पाएं।

गौर करें तो पाएंगे कि इन दिनों अपने देश में हिंसा, भय और घृणा के सत्तासंरक्षित कारोबारियों द्वारा प्रायोजित तमाशे देखने और यह जताने वालों में कि उन्हें इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, डराकर रखे हुए ऐसे महानुभावों की ही बहुतायत हैं। गिरती हुई लाशों और उन्हें गिराने वालों के धर्म जानकर सुविधानुसार खुश या नाखुश होने वालों में भी।

आश्चर्य नहीं कि इन 'डराए हुए' लोगों की भीड़ सड़क या फुटपाथ पर सिरफिरों को किसी निरीह को क्रूरतापूर्वक टुकड़ों में काटते, गोलियों से भूनकर मौत के घाट उतारते या उसका मानमर्दन करते देखती है तो उस निरीह से ज्यादा प्राणभय की शिकार हो जाती और हस्तक्षेप कर उसे बचाने के प्रयत्न करने के बजाय 'बुद्धिमत्तापूर्वक' वहां से टल जाती है।

याद कीजिए, सितंबर 2024 में उज्जैन के एक खासी भीड़भाड़ वाले चौराहे के फुटपाथ पर दिनदहाड़े एक महिला से बलात्कार की जो वारदात हुई और जिस तरह उसका वीडियो बनाकर वायरल किया गया, उसे देखकर टल जाने वाले भी ऐसे ही 'डरे हुए बुद्धिमानों' में थे। इससे एक साल पहले, इसी उज्जैन में ही हैवानियत की शिकार खून से लथपथ अधनंगी बच्ची मदद के लिए गिड़गिड़ाती और रिरियाती फिरती रही थी। तब उसे निराश करने वाले भी यही थे।

हमारे अतीत में भी दुष्टों के सवाया-ड्योढ़ा हो जाने पर 'बुद्धि' के बुजदिली से सांठगांठ कर लेने के प्रसंग दुर्लभ नहीं हैं। तभी तो कहा जाता है कि दुनिया को दुष्टों की कारस्तानियों से ज्यादा क्षति डरे हुए सज्जनों की 'बुद्धिमत्तापूर्ण चुप्पी' से पहुंची है। अब तो ये 'सज्जन' अपनी चुप्पी से ही नहीं आशीर्वाद तक से दुष्टों और हत्यारों के काम बना रहे हैं।

बकौल वरिष्ठ हिन्दी कवि चन्द्रेश्वर :

किसी शोकसभा की पहली कतार में
दिखते हैं हत्यारे
किसी प्रार्थना में होते हैं शामिल
सबसे ज्यादा
अब उनकी पीठ पर गोदाम नहीं होता
बारूद का
हाथों में लपलपातीं नहीं तलवारें
दिन-ब-दिन कठिन होती जा रही है
उनकी पहचान
वे अब अगले दरवाजे से
दाखिल होते हैं
हमारे आंगन में
दोस्त की तरह
हमें पता तक नहीं कि वे बैठे हैं छिपकर
स्कूली बच्चों की पीठ पर लदे बस्तों में
किसानों के खेत की हराई में पड़ी खाद में
बीज में/रोगियों की दवा में
मीठे पानी के सोते वाले कुएं में
अब वे फुदकने लगे हैं हर वक्त
हमारी दिनचर्या पर
गौरैये की शक्ल में
भरे बाजार में
नायक की तरह दिखते हैं हत्यारे
हत्यारों को प्राप्त है
सज्जनों का आशीर्वाद!

तिस पर इन 'सज्जनों' की गिरावट की इंतिहा देखिए कि नृशंस यौन हमलों में भी (जिनकी किसी भी सभ्य समाज में कोई माफी नहीं हो सकती) वे हमलावरों में धर्म के आधार पर फर्क कर उनके घरों पर बुलडोजर चलवाते या उन्हें बचाते हैं। हमलावर अपने धर्म के हों तो उनका कृत्य उनके लिए उतना निंदनीय या शर्मनाक नहीं होता, जितना दूसरे धर्म वाले हमलावरों का कृत्य। अपने वर्गचरित्र के अनुसार वे कुछ यौन हमलों के विरुद्ध आवाज भी उठाते हैं तो उन्हें पीड़िताओं के मानमर्दन से ज्यादा अपनी नाक का सवाल बनाकर! अपनी पसंद की पार्टी द्वारा शासित राज्यों में हुए ऐसे हमलों के खिलाफ उनके मुंह से बोल तक नहीं फूटते और पीड़िताओं के प्रति उनकी सारी सहानुभूति नापसंद पार्टियों द्वारा शासित राज्यों के लिए सुरक्षित होती है। तिस पर इस सहानुभूति में भी वे अपने पोच सोच को परे नहीं रख पाते।

कौन कह सकता है कि ये हालात बदले बगैर भी हमारा निस्तार संभव है? ■

> यह बात जान लेना महत्वपूर्ण होगा कि विवेक की ऐसी छिनैतियां सफल होने लग जाती हैं, तो कोई भी धर्म, धर्म नहीं रह पाता। वह लोमड़ियों की धार्मिक शिक्षा से पैदा हुए धर्मभीरुओं और धर्मपशुओं के शिकंजे में कसता चला जाता है

समाज की जीवंत यात्रा की कहानी है हिन्दी पत्रकारिता

कभी यह सामाजिक परिवर्तन का उपकरण थी। अब लगातार संकुचित होती जा रही है निष्पक्ष और स्वतंत्र पत्रकारिता

शैलेन्द्र चौहान

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास केवल अख़बारों के प्रकाशन की कहानी नहीं है। यह भारतीय समाज की चेतना, संघर्ष, असहमति और परिवर्तन की जीवंत यात्रा है। यह यात्रा 30 मई 1826 को कोलकाता की आमड़ातल्ला गली से प्रकाशित उदन्त मार्तण्ड से शुरू होती है, जिसने हिन्दी पत्रकारिता की नींव रखी। यह साप्ताहिक पत्र था, जिसकी भाषा 'पछांही हिन्दी' थी, जिसे उसके संपादकों ने "मध्यदेशीय भाषा" कहा। यह नामकरण अपने आप में उस समय की भाषायी चेतना का परिचायक है, जब हिन्दी को साझा जनभाषा के रूप में स्थापित करने की कोशिशें प्रारंभ हो रही थीं।

उदन्त मार्तण्ड का अल्पकालिक रहा। यह 1827 में ही बंद हो गया, लेकिन इसका ऐतिहासिक महत्व अत्यंत व्यापक है। उस समय किसी भी समाचार पत्र का संचालन सरकारी सहयोग के बिना लगभग असंभव था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने मिशनरी पत्रों को डाक सुविधा जैसी सहूलियतें प्रदान कर रखी थीं, किंतु भारतीय भाषाओं के पत्रों के प्रति उसका दृष्टिकोण उपेक्षापूर्ण था। पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने अनेक प्रयासों के बावजूद इस प्रकार की कोई सुविधा प्राप्त नहीं की। परिणामस्वरूप, आर्थिक संकट गहराता गया और अंततः पत्र बंद करना पड़ा। यह केवल एक पत्र का बंद होना नहीं था, बल्कि उस दौर की सत्ता और भाषा-राजनीति के अंतर्विरोधों का भी संकेत था।

जुगल किशोर शुक्ल का संघर्ष हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में प्रेरक अध्याय है। उन्होंने न केवल आर्थिक कठिनाइयों का सामना किया, बल्कि उस मानसिकता से भी जूझे जो भारतीय भाषाओं को ज्ञान और अभिव्यक्ति के योग्य नहीं मानती थी। आज, लगभग दो शताब्दियों बाद भी, उनका यह संघर्ष पत्रकारिता के पेशे में नैतिकता, प्रतिबद्धता और साहस

का मानक बना हुआ है।

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास को समझने के लिए उससे पहले की अंग्रेज़ी पत्रकारिता पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। भारत का पहला अंग्रेज़ी अख़बार बंगाल गज़ेट 1780 में जेम्स ऑगस्टस हिक्की द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह अख़बार दो पृष्ठों का था, लेकिन इसकी सामग्री बेहद तीखी और निर्भीक थी। इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी के उच्च अधिकारियों के निजी जीवन तक की आलोचना प्रकाशित होती थी। जब हिक्की ने तत्कालीन गवर्नर वॉरेन हेस्टिंग्स और न्यायपालिका के शीर्ष पदाधिकारियों की आलोचना की, तो उन्हें कारावास और भारी जुर्माने का सामना करना पड़ा। अंततः उनका अख़बार बंद कर दिया गया। यह घटना स्पष्ट करती है कि भारतीय उपमहाद्वीप में पत्रकारिता की शुरुआत ही सत्ता के साथ टकराव से हुई थी।

उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में राजा राममोहन राय ने पत्रकारिता को सामाजिक और धार्मिक सुधारों का माध्यम बनाया। उनके द्वारा प्रकाशित पत्र—जैसे संवाद कौमुदी—ने सती प्रथा, बाल विवाह और धार्मिक कट्टरता के खिलाफ जनमत तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके लिए उन्हें तीव्र विरोध और हमलों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार पत्रकारिता धीरे-धीरे केवल सूचना का माध्यम न रहकर सामाजिक परिवर्तन का उपकरण बनती गई।

इस दौर में पत्रकारिता का एक अत्यंत मानवीय और संघर्षपूर्ण रूप भी देखने को मिलता है। कोलकाता में दुर्गाप्रसाद मिश्र जैसे संपादक अपने पत्र को जीवित रखने के लिए बाजारों में जाकर लोगों को अख़बार पढ़कर सुनाते थे और बदले में कुछ पैसे प्राप्त करते थे। काशी में पराड़कर जी के अंतिम दिनों की घोर गरीबी बताती है कि पत्रकारिता कभी भी आसान पेशा नहीं रही। यह हमेशा जोखिम, संघर्ष और त्याग की मांग करती रही है।

हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा महत्वपूर्ण चरण 1873 से 1900 के बीच का माना जाता है। इसे अक्सर 'भारतेंदु युग' के रूप में जाना जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने न केवल साहित्य में, बल्कि पत्रकारिता में भी नई चेतना का संचार किया। उनकी हरिश्चंद्र मैगजीन और कवि वचन सुधा जैसी पत्रिकाएं सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक मुद्दों पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत करती थीं। इस काल में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा समर्थित सरस्वती पत्रिका का भी विशेष महत्व रहा, जिसने हिन्दी भाषा और साहित्य के मानकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में जब स्वाधीनता आंदोलन तेज हुआ, पत्रकारिता ने नए रूप में स्वयं को स्थापित किया—एक मिशन के रूप में। यह मिशन था औपनिवेशिक दासता से मुक्ति का। बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, और भगत सिंह जैसे नेताओं ने पत्रकारिता को जनजागरण का प्रभावी माध्यम बनाया। तिलक के केसरी और मराठा, गांधी के यंग इंडिया और हरिजन, तथा भगत सिंह के लेखों ने जनता में राजनीतिक चेतना जागृत की। हिन्दी पत्रकारिता ने विशेष रूप से ग्रामीण और अर्धशहरी क्षेत्रों में विचारों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

स्वतंत्रता के बाद पत्रकारिता का स्वरूप बदलने लगा। लोकतंत्र की स्थापना के साथ प्रेस को 'चौथा स्तंभ' माना गया और उससे अपेक्षा की गई कि वह सत्ता की निगरानी करेगा और जनता के हितों की रक्षा करेगा। प्रारंभिक दशकों में पत्रकारिता ने इस भूमिका को काफी हद तक निभाया भी। लेकिन समय के साथ-साथ आर्थिक उदारीकरण, तकनीकी विकास और बाजारवाद के प्रभाव ने पत्रकारिता की प्रकृति को बदलना शुरू कर दिया। अब खबरों का चयन जनहित के बजाय 'बिकाऊपन' के आधार पर होने लगा।

आज की पत्रकारिता में 'मीडिया कर्मी' को 'कंटेंट प्रोवाइडर' कहा जाने लगा है। यह शब्दावली संकेत देती है कि पत्रकारिता विचार और प्रतिबद्धता का क्षेत्र कम, उत्पाद निर्माण का क्षेत्र बनती जा रही है।

बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों के स्वामित्व वाले मीडिया संस्थान अपने आर्थिक हितों के अनुरूप खबरों का चयन करते हैं। सरकारी विज्ञापनों का दबाव भी संपादकीय स्वतंत्रता को प्रभावित करता है। इस परिदृश्य में निष्पक्ष और स्वतंत्र पत्रकारिता की गुंजाइश लगातार संकुचित होती जा रही है।

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास सिखाता है कि यह केवल सूचना का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का उपकरण है। इसके प्रारंभिक चरण में जो प्रतिबद्धता, साहस और जनपक्षधरता दिखाई देती है, वही इसकी असली ताकत है। आज आवश्यकता है कि उस विरासत को पुनः स्मरण किया जाए और पत्रकारिता को उसके मूल मूल्यों—सत्य, न्याय और जनहित की ओर वापस मोड़ा जाए। ■

> आज की पत्रकारिता में 'मीडिया कर्मी' को 'कंटेंट प्रोवाइडर' कहा जाने लगा है। यह शब्दावली संकेत देती है कि पत्रकारिता विचार और प्रतिबद्धता का क्षेत्र कम, उत्पाद निर्माण का क्षेत्र बनती जा रही है

Published Date 03 May, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

भारतीय राजनीति के ऋषि थे मधु लिमये

उनकी राजनीतिक यात्रा को याद रखने वाले जीवन भर सांप्रदायिकता के विरुद्ध उनके संघर्ष को रेखांकित करेंगे

योगेन्द्र यादव

मैंने कहा: "इस मई दिवस पर मधु लिमये 104 बरस के हो जाते"। एक युवक ने पूछाः "मधु लिमये कौन थीं?" आज के युवजन नहीं जानते कि मधु लिमये पुरुष थे कि महिला, राजनेता थे कि अभिनेता, वामपंथी थे या दक्षिणपंथी। यह सुनकर मुझे दुख तो होता है, मगर अचरज नहीं होता। दोष उनका नहीं, हमारा है। राजनीति में किसे याद किया जाएगा, यह उस व्यक्ति के काम से ज्यादा उसके वारिसों की हैसियत पर निर्भर करता है। जितना उसके वारिसों का वजन, उतना ही उसके नाम का चलन। वारिस खानदानी हो सकते हैं, जाति-समुदाय के हो सकते हैं या फिर राजनीतिक और वैचारिक। मधु लिमये वंशानुगत राजनीति के खिलाफ रहे। जन्म से ब्राह्मण थे, लेकिन जीवन भर "जाति तोड़ो" और आरक्षण के समर्थन में "पिछड़ा पावे सौ में साठ" का नारा बुलंद किया। जीवन और राजनीति की शुरुआत महाराष्ट्र से की लेकिन जेल गए गोवा की मुक्ति के लिए। लोकसभा में बिहार के मुंगेर और बांका का प्रतिनिधित्व किया। खानदानी, क्षेत्रीय और जातिवादी राजनीति के दौर में उन्हें कौन याद करे?

उनका घर और खानदान था समाजवादी आंदोलन जो आज सरस्वती की तरह लुप्त हो गया है। कभी-कभार राममनोहर लोहिया और जयप्रकाश का नाम याद आ जाता है। आजकल मुलायम सिंह यादव और कर्पूरी ठाकुर का नाम लेने का भी चलन है। लेकिन जिस समाजवादी क्यारी में मधु लिमये फले-फूले, उसे इतिहास ने भुला दिया है। चाहे समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों आचार्य नरेन्द्र देव, यूसुफ मेहराली, अच्युत पटवर्धन और कमलादेवी चट्टोपाध्याय की पीढ़ी हो या उनके बाद मधु लिमये, जॉर्ज फर्नांडीज, रामवृक्ष बेनीपुरी, नानाजी गोरे, सुरेंद्रनाथ द्विवेदी, एसएम जोशी, रबी राय, मधु दंडवते, प्रमिला दंडवते, राजनारायण, मणिराम बागड़ी, मृणाल गोरे, किशन पटनायक जैसे नेताओं की कतार हो, आज उन्हें कोई नहीं जानता। आज की समाजवादी राजनीति के झंडाबरदार भी नहीं जानते। भारतीय राजनीति की इस धारा का लोप होना केवल उस परंपरा से रिश्ता रखने वालों के लिए ही नहीं, बल्कि भारतीय राजनीति और विचार परंपरा के लिए धक्का है।

पुणे में 1922 में जन्मे मधु लिमये पंद्रह साल की आयु में ही फ़र्ग्यूसन कॉलेज में दाखिला ले चुके थे, आजादी के आंदोलन से जुड़ चुके थे और समाजवादी विचारधारा की और आकृष्ट हो गए थे। उन दिनों मधु लिमये जैसे मेधावी युवा राजनीति का रास्ता चुनते थे। भारत छोड़ो आंदोलन में भूमिगत और फिर जेल में रहने के बाद मधु लिमये समाजवादी पार्टी के अग्रिम पंक्ति के नेता बने। आजादी के बाद भी गोवा की पुर्तगाली औपनिवेशिक राज से मुक्ति के आंदोलन में भाग लेने की वजह से लंबी कारावास काटी। लोहिया के नेतृत्व वाली समाजवादी पार्टी के नेता के रूप में चार बार संसद सदस्य रहे। पूरी इमरजेंसी जेल में काटी। जनता पार्टी के संस्थापक रहे और जनसंघ के सदस्यों द्वारा जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की "दोहरी सदस्यता" बनाए रखने के विरुद्ध अभियान चलाया। इसके चलते जनता पार्टी दोफाड़ हुई और जनता सरकार गिर गई। साठ साल की उम्र में 1982 में मधु लिमये ने राजनीति से संन्यास ले किया और अंतिम तेरह वर्ष लेखन करते हुए बिताए।

मधु लिमये को एक राजनीतिक साधु के रूप में याद किया जा सकता है। विलक्षण विद्यार्थी होने के बावजूद नौकरी धंधा चमकाने की बजाय पूरा जीवन राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में बिताना। लगातार संघर्ष, आंदोलन और जेल यात्रा का सिलसिला। चार बार सांसद रहने के बावजूद अपनी जीवन संगिनी चंपा लिमये के संग एक साधारण से फ्लैट में सादा जीवन। इमरजेंसी में लोकसभा की अवधि को असंवैधानिक रूप के बढ़ाने के विरुद्ध संसद सदस्यता से इस्तीफा देना। जनता सरकार में मंत्री पद या कोई सुख सुविधा लेने से इनकार। आज की राजनीति में आदर्श और त्याग के इस जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

उनकी राजनीतिक यात्रा को याद रखने वाले जीवन भर सांप्रदायिकता के विरुद्ध उनके संघर्ष को रेखांकित करेंगे। महाराष्ट्र में रहते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के खतरे को उन्होंने शुरू से ही पहचाना था। इस सवाल पर उन्होंने समाजवादी नेताओं को आगाह किया था। जनता पार्टी में जनसंघ का विलय होने के बाद उन्होंने आग्रह किया कि पार्टी की विचारधारा के अनुरूप जनसंघ के नेता संघ से अपना नाता तोड़ लें। उस समय "दोहरी सदस्यता" को लेकर मधु लिमये द्वारा चलाए अभियान को जनता पार्टी के विघटन का दोषी माना गया था। लेकिन मधु लिमये अपने वैचारिक आग्रह पर अडिग थे। उसके बाद के घटनाक्रम ने यह साबित किया कि मधु लिमये ने इस खतरे को वक्त रहते भांप लिया था। आज गणराज्य के स्वधर्म पर हो रहे हमले का मुकाबला करने वाले मधु लिमये से प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

लेकिन आज के भारत में मधु लिमये को याद करने का सबसे बड़ा कारण उनका बौद्धिक योगदान है। उन्होंने हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी में कोई साठ किताबें लिखीं। सक्रिय राजनीति में रहते हुए उनके लेखन पर तात्कालिक पक्षधरता की परछाई थी। लेकिन सक्रिय राजनीति से अवकाश लेने के बाद उन्होंने जो लिखा वह उन्हें भारतीय राजनीति की चिंतन परंपरा में स्थापित करता है। उनके लेखों में आजादी के बाद भारतीय राजनीति का गहरा विश्लेषण है। उन्होंने "गैर कांग्रेसवाद" को एक वक्ती रणनीति की बजाय राजनीति की संरचनात्मक मांग के जवाब के रूप में देखा, जनता पार्टी के प्रयोग की तटस्थ व्याख्या की, संसदीय व्यवस्था की संस्थाओं का गहर विश्लेषण किया और उनमें सुधार के प्रस्ताव दिए, समाजवादी आंदोलन का इतिहास लिखा।

विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर उनका लेखन अमेरिकी और रूसी कैम्प से अलग तीसरी दुनिया की गुट निरपेक्षता को सैद्धांतिक आधार देता है। उनका अंतिम दौर का लेखन भारतीय राजनीति में बनी अनेक खाइयों के पार वैचारिक पुल बनाता है — समाजवादी और साम्यवादियों के बीच, गांधी और आम्बेडकर के बीच तथा नेहरू और गांधी के बीच। मधु लिमये बीसवीं सदी के वैचारिक द्वंद्व के बीच भविष्य का रास्ता ढूंढने में प्रकाश स्तंभ का काम करते हैं। मधु लिमये का जीवन, उनकी राजनीति और उनके विचार उन सब के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं जो भारत गणराज्य को इस कठिन घड़ी में बचाने के लिए कृतसंकल्प हैं। ■

अध्ययन में मशगूल (ऊपर) और गोवा में मुक्ति संग्राम में हिस्सा लेते समाजवादी विचारक मधु लिमये

मधु लिमये बीसवीं सदी के वैचारिक द्वंद्व के बीच भविष्य का रास्ता ढूंढने में प्रकाश स्तंभ हैं। वह उन सब के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं जो भारत गणराज्य को बचाने के लिए कृतसंकल्प हैं

ADVERTISEMENT RATE CARD
w.e.f. 1 September 2025

NATIONAL HERALD ON SUNDAY
संडे नवजीवन

The AJL Group has two weekly newspapers and three website portals in English, Hindi and Urdu
www.nationalheraldindia.com | www.navjivanindia.com | www.qaumiawaz.com

Commercial Display (w.e.f 1 Sept 2025)

Category of Advertisements (C/BW)	National Herald on Sunday (National Edition)	National Herald on Sunday (Mumbai)	Sunday Navjivan (National Edition)
Full Page (1650 sq.cm)	Rs 10 Lakh	Rs 8 Lakh	Rs 10 Lakh
Half Page (800 sq. cm)	Rs 6 Lakh	Rs 5 Lakh	Rs 6 Lakh
Quarter Page (400 sq. cm)	Rs 4 Lakh	Rs 3 Lakh	Rs 4 Lakh
< Quarter Page (per sq. cm)	Rs 700	Rs 450	Rs 700

PAGE PREMIUM	Display Ads BW/Color	Political Ads BW/Color
Front page	100% Surcharge	200% Surcharge
page (3 & back)	25% Surcharge	100% Surcharge
Specified page	50% Surcharge	50% Surcharge

*Advance payment is needed for all political advertisements.

Classified for festival greetings, anniversary & notices
Full page @ Rs 1,00,000 | Half Page @ 60,000
< 240 sq. cm @ Rs 175 per sq. cm

State Govt Advertisements/ C/BW
@ Rs 525 per sq. cm

The Associated Journals Limited
Herald House, 5A, Bahadur Shah Zafar Marg,
New Delhi 110002
Phone: 011-47636300 - 313
Whatsapp No: 9650400932
Email: advt@nationalheraldindia.com

Online Remittance/Bank Beneficiary Details:
Name: **Associated Journals Limited**
Bank Name: **Canara Bank**
Branch Name: **I P Estate, New Delhi-110002**
C/A No.: **90171010003955;** IFSC Code: **CNRB0019017**
GST No.: **27AAECA1180A1ZB ;** PAN No.: **AAECA1180A**

NOTE: Cheque / DD should be drawn in favor of "Associated Journals Limited" and sent to Herald House, 5-A Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi -110002.

General Terms and Conditions
w.e.f. 1 September 2025
National Herald on Sunday (Delhi & Mumbai) and Sunday Navjivan

1. All advertisements are published in Edition(s) of the paper and charges are payable strictly in advance of publication by Bank Draft or Bank Transfer (RTGS) and /or cheques only except in the case of advertising agencies accredited to INS.

2. Advertisements are accepted for publication on top of advertisements positions on an additional charge of 25%. No advertisement is however published on top of news-matter.Top of column position cannot be guaranteed even on payment of additional charge of 25%.

3. Extra charges for top of column position are calculated on the total amount payable inclusive of amount payable for specified pages.

4. Every reasonable effort is made to publish an advertisement on the date(s) specified by an advertiser. The Management however reserves the right to vary the date or the scheduled date(s) of publication, with or without notice to the advertiser, owing to the exigencies of availability of spaces.

5. The management reserves the right to refuse, suspend or stop, in its discretion, publication of any advertisement without assigning any reasons.

6. While every endeavour will be made by the Management to avoid publication of competitive advertisements in close proximity to one another, no guarantee can be given in this respect nor will the claims be entertained for free insertions in the event of announcements of rival product appearing on the same page.

7. The placing of an order by an Advertiser/Advertising Agency constitutes a warranty by the Advertiser/Advertising Agency to the Associate Joumals Limited Management that the Advertiser/ Advertising Agency has secured the necessary authority and permission in respect of the use in the advertisement or advertisements of pictorial representation of (or purporting to be of) living persons and all references to words attributing to living persons.

8. The advertisements will be charged at the rate applicable on the day of publication of the advertisement irrespective of the date of booking, date of release order and whether the advertisement is part of any package/scheme.

9. Standing instructions are accepted over Whatsapp or email. However verbal instructions must be clear and specific. Quoting reference of the previous release order and/or new scheduled dates of insertions in respect of which the instructions are given. These instructions should be given afresh either through Whatsapp/email and/or Landline phone.

10 Booking of space for premium positions in all The Associated Journals Limited publications will be confirmed only upon receipt of original releaseorder. Fax/Scanned copies, Emails will be entertained for the same.

11. "Reader" advertisements are accepted but will be distinguished from 'news matter' by a rule around the advertisement matter and expression 'advt' will be added at bottom.

12. Solus/Semi Solus positions cannot be guaranteed on the front page.

13. Cancellation charges @20% of the total cost of the front/Full page advertisement shall be levied if a cancellation of booking is made two days before the scheduled date of publication. Cancellation charges @35% of the total cost of the full front-page advertisement shall be levied if the cancellation of a booking of front/full page advertisement is made one day before the scheduled date of the publication.

14. In the event of printing mistake, omission or non-publication of advertisement, the advertising agencies shall have to furnish the instructionson behalf of their client for republication. In the event of a dispute the liability of Management shall be restricted to the amount received against sale of spaces for the advertisement received. All disputes /claims regarding advertisement /complaints must be made within a period of one month of publication date after which no claim will be entertained.

15. The Management shall not be responsible for any loss or damage caused by an error or inaccuracy in the printing of/or omission in inserting advertisements.

16. In case of dispute, the agency shall not be entitled to invoke any condition suggestive of existence of an arbitration agreement unless specifically agreed to by the Management.

17. No deduction is allowed from bills raised against publication of advertisement(s) on account of any defective insertion(s). Any claims in these respects, if admitted, will be met by publishing a corrigendum/ free insertion or the like, depending upon the merits of the claim vis-a-vis the error in publishing the advertisement(s) or other materials. Claims for refund or for compensation, if admitted, shall be restricted to the charges for advertisement received by Management. The decision of the management shall be final in this regard.

18. The advertisements released by Government/Semi Government/ Undertakings/Autonomous body are published in classified display column only at commercial rates irrespective of the number of words.

19. The advertising agencies releasing an advertisement on behalf of its client shall be deemed to have undertaken to keep the management indemnified in respect of costs, damages or other charges incurred by the Management as a result of any legal action or threatened legal action arising from and in relation to publication of any advertisement published in accordance with the release order and the copy of instructions supplied by the agency.

20. The agency shall bring to the notice of its clients these General Terms and it shall not be open to any of its clients to plead/claim or aver ignorance of these General Terms which apply to every transaction of sale of space in particular issue(s) of any of publications of The Associated Joumals Limited.

21. No agency commission is payable on the on the classified advertisements chargeable at DAVP rates.

22. Fraction of centimetre in excess of the scheduled size shall be charged as full centimetre if the advertisement exceeds the scheduled size. If the material supplied is shorter than the scheduled size, the advertisement will be charged for the size scheduled and not for theactual space occupied or consumed by the advertisement on the basis of the short size material so supplied.

23. The Management shall not be bound by notice of stoporders, cancellations, preponements/postponements or alterations/deletions/ additions in the material(s) of advertisement(s) booked for publication in special or specified position if received less than one week prior to dates of insertion. For ordinary advertisement, the stoppage or not of cancellation must reach at least four days before the scheduled date of publication of advertisement.

24. The Management reserves the rights to revise the rates and terms and conditions without any notice.

25. Every Advertiser/Advertising Agency acknowledges having read and accepted these Terms and Conditions.

26. Courts only in New Delhi, shall have the jurisdiction to entertain and decide all disputes and claims, arising out of publication of any advertisement in the Associate Journals limited publications.

27. The Management shall be at liberty to refuse to carry advertisements/ adjust amounts paid for subsequent ads against pre-existing liabilities, even without carrying such subsequent advertisement.

28. Advertising party hereby agrees to indemnify, defend and hold harmless AJL, it's directors, officers, shareholders and agents against any and all third party claims arising out of or in connection with the content or placement of the advertisement, and to the fullest extent.

29. In no event shall AJL be liable hereunder for any indirect, incidental, special, consequential, punitive or exemplary damages or losses in connection with these terms even if advised in advance of the possibility of arising of such liability, damages or losses.

30. In no event shall AJL's aggregate liability exceed Rs. 10,000 to any advertising party.